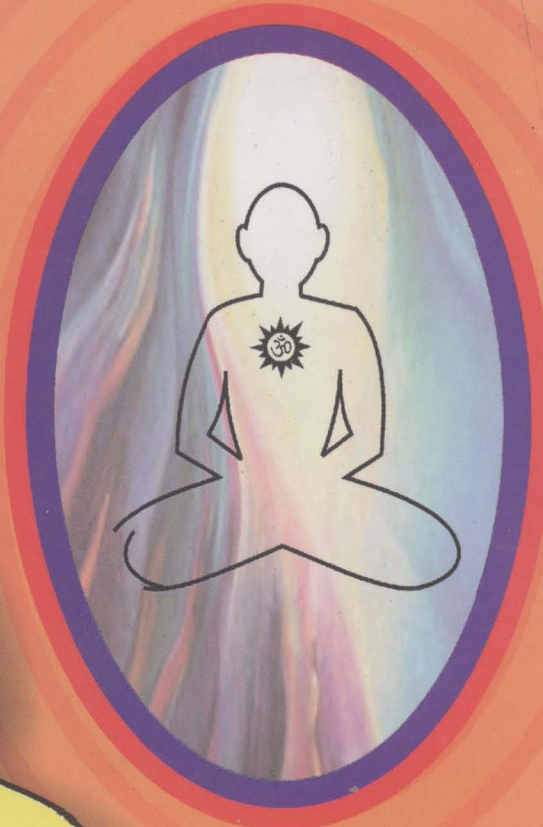
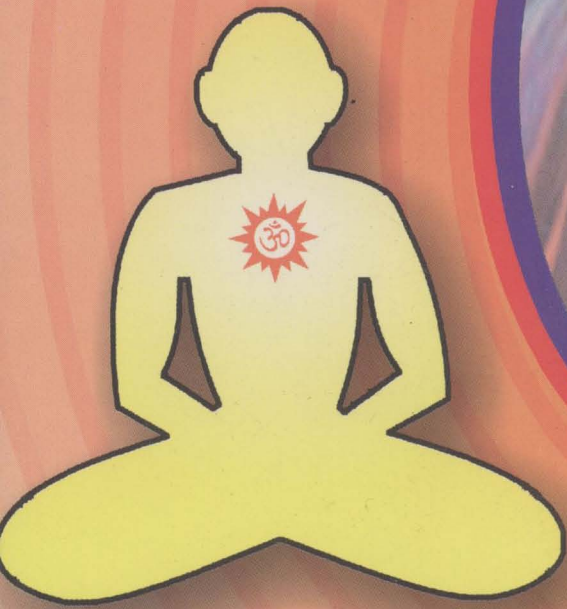


# ध्यान दुर्षणा



डॉ. श्रीमती विजया गोसावी



# ध्यान दर्पण



डॉ. विजया कृष्णराव गोसावी

## ध्यान दर्पण

### लेखिका—

डॉ. श्रीमती विजया गोसावी  
ऐश्वर्य हाऊसिंग सोसा., एफ—६/१.१/सेक्टर—७  
सानपाड़ा, नवीन मुम्बई—४००७०५  
फोन : ०२२/२७६८०३९०  
मोबाइल : ९८१९८—७३०२९

### प्रकाशक—

सुमेरु प्रकाशन,  
डॉंबिवली

### प्राप्ती स्थल—

प्राच्य विद्यापीठ,  
दुपाड़ा रोड, शाजापुर (म.प्र.)  
फोन : ०७३६४—२२२२१८

### कीमत—

२५/— रुपए (पच्चीस रुपए मात्र)

### मुद्रक—

आकृति ऑफसेट  
५, नईपैठ, उज्जैन (म.प्र.)  
मो. ९८२७२—४२४८९, ९८२७६—७७७८०

# आशीर्वाद

दर्पण ध्यान का प्रतीक है। यदि चित्त दर्पण जैसा बन जाता है, तो उसमें कोई प्रतिबिम्ब स्वतः नहीं उभरता, क्योंकि दर्पण तटस्थ है। जो भी सामने आता है, उसे प्रतिबिम्बित करता है।

जब जीव राग-द्वेष से ज्ञेय को देखता है, तो वह ज्ञान धुंधला या दूषित हो जाता है, इसलिए केवल देखना सीखें, केवल सुनना सीखें, तब वह निर्मल ध्यान बन जाता है।

‘चलं चित्तं नाणं, थिरं चित्तं ज्ञाणं’। ध्यान दर्पण में डॉ. श्रीमती विजया गोसावी ने सरलता से इसी सच्चाई को व्यक्त किया है, इसलिए वह धन्यता की पात्र है। हमारे पूरे संघ का आशीर्वाद उनके साथ है।

दिनांक : 03.11.2008

**मुनि किशनलाल**

प्रज्ञा शिखर  
लाडनूँ (राज.)

# अभिनन्दन

ध्यान—साधना भारतीय साधना—पद्धति में एक प्रमुख तत्त्व है। इसे मोक्ष—प्राप्ति का अन्यतम कारण माना गया। पतंजलि ने अष्टाङ्गिक योग की चर्चा करते हुए सातवें क्रम पर ध्यान और आठवें क्रम पर समाधि की चर्चा की है। जैन—धर्म की परम्परा के अनुसार साधक को मोक्ष की प्राप्ति के पूर्व क्रमशः धर्मध्यान और शुक्लध्यान में प्रवेश करना होता है। शुक्लध्यान के जो चार चरण बताए गए हैं, उसमें जो साधक अन्तिम दो चरणों की साधना को सिद्ध कर लेता है, वह नियम से मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। डॉ. विजया गोसावी ने प्रस्तुत पुस्तिका में इसी बात को सिद्ध करते हुए यह बताने का प्रयत्न किया है कि ध्यान ही मोक्ष का द्वार है। वस्तुतः, ध्यान निर्विकल्प चेतना की उपलब्धि है और यह निर्विकल्प चेतना ही मोक्ष का द्वार है। चित्त को निर्विकल्प और तनावरहित बनाने का एकमात्र साधन ध्यान है।

आज मनुष्य तनाव में जी रहा है। तनाव से जिसे मुक्ति प्राप्त करना है, उसे ध्यान की साधना करना होगी, क्योंकि ध्यान मन को निर्विकल्प तथा शान्त बनाता है। मन की विकल्परहित दो शान्त अवस्थाएँ हैं। दूसरे शब्दों में, जब मन 'अमन' हो जाता है, तो व्यक्ति मुक्त हो जाता है। हम विश्वास करते हैं कि 'ध्यान दर्पण' नामक यह लघु पुस्तिका तनावग्रस्त मानव को आत्मशान्ति का मार्ग प्रस्तुत करेगी।

इस कृति की रचना के लिए डॉ. विजया गोसावी धन्यवाद की पात्र हैं और हम अपेक्षा करते हैं कि वे ऐसी छोटी पुस्तकों के माध्यम से जन—चेतना को तनावमुक्त करने में सहायक बनेंगी।

विक्रम संवत् 2065  
तिथि विजयादशमी  
दिनांक : 09.10.2008

डॉ. सागरमल जैन  
प्राच्य विद्यापीठ  
दुपाड़ा रोड, शाजापुर (म.प्र.)

# मनोगत

संसार में सभी प्राणी सुख और शान्ति की कामना करते हैं, आत्मानुभूति की अभीप्सा रखते हैं, लेकिन आज का आधुनिक समाज भीषण भौतिकवाद के तले दबकर दुःख की ही अनुभूति कर रहा है। सर्वत्र आतंक, भय, भ्रष्टाचार एवं उत्तेजना का वातावरण विद्यमान है। हम अनन्त सुख के स्वामी होकर भी दुःख तथा तनाव के महासागर में डूबते जा रहे हैं। इन समस्याओं का समाधान बाह्य तथा भौतिक साधनों में संभव नहीं है। हम कौन हैं ? हमारा स्वरूप क्या है ? आदि प्रश्नों के उत्तर की खोज में जब हम अपनी प्राचीन समृद्ध परम्परा की ओर झाँकते हैं, तो वहाँ हमें एक सुदृढ़ परम्परा मिलती है, एक सशक्त मार्ग मिलता है — दुःख-विमुक्ति का, स्वयं को पहचानने का। वह मार्ग है— ध्यान का मार्ग।

आध्यात्मिक-साधक सत्य का अन्वेषी होता है। वह अपने चारों ओर विकीर्ण सूक्ष्म सत्यों को जानने के लिए चेतना के सूक्ष्मतम स्तरों से गुजरता है। सत्य को पाने से पहले वह अपनी ही खोज के लिए समर्पित होता है। अन्तश्चेतना की अन्वेषणा में वह अपने-आपको मिटा देता है। इससे उसकी चेतना के केंद्र में एक व्यापक विस्फोट होता है और वह आत्म-साक्षात्कार के अनिर्वचनीय आनन्द में डूब जाता है। उनकी समस्त प्रज्ञा जाग्रत हो जाती है।

मुझे बचपन से ही यही लगता था कि सत्य कुछ और है। इसी कारण हर किसी को पूछती थी कि भगवान कहाँ है ? कैसा है ? पर मुझे कोई भी बता न सका। समय के साथ उम्र बढ़ती गई और प्रश्न वैसे ही मन में दबे रहे। मेरी माँ बहुत धार्मिक थी। इस कारण बचपन से ही मैंने अनेक व्रत, उपवास, मौन-साधना आदि किए, पर उनका अर्थ नहीं जानती थी और उनके सम्बन्ध में कुछ पूछने की हिम्मत भी नहीं होती। श्रद्धा बहुत थी, पर राह न मिली।

कुछ समय पश्चात मेरी शादी भी हुई और मैं अमेरिका चली गई। जिंदगी में मुझे जितना सुख और चैन मिला, उतना ही दुःख भी। उस दुःख ने फिर से दबे हुए प्रश्नों को जगाया। फिर से मेरी तलाश शुरू हुई। मैंने प्रथम योग की साधना की, बाद में ध्यान का अभ्यास किया। सभी शास्त्रों में, धर्मों में तलाश जारी रही। उसी उद्देश्य से अनेक परीक्षाएं, अनेक आश्रम, धर्मगुरु, प्रवचन, किताब, पंडित मेरे अभ्यास के स्रोत बने। मनन, चिंतन और प्रयोग ही मेरे लक्ष्य बने। जिस प्रकार मक्खन से घी निकाला जाता है, उसी प्रकार यह साधना अनेक वर्षों तक चलती रही। जब सत्य को मैंने जाना, तो प्रवचन के रूप में बाँटना प्रारम्भ कर दिया। इसी सत्य को बाह्य रूप से मोहर मिली पीएच.डी. की पदवी से।

जब मैंने जैन-दर्शन में एम.ए. किया था, तब सोचा कि ध्यान के अलावा मेरे शोधकार्य का कोई विषय हो ही नहीं सकता। मेरे जीवन में योग एक वरदान के रूप में आया, यह मैं कदापि भूल नहीं सकती। आध्यात्मिक-जगत् की जिज्ञासा और संसार के प्रति वैराग्य मुझे इस ध्यान के विषय की तरफ खींच लाया। इस विषय के अध्ययन से मेरी आत्मा की जो निर्मलता हुई, वह अनमोल है। एक ऐसा अनमोल खजाना मैंने पाया, जो कभी भी लूटा नहीं जा सकता।

इस शोधकार्य के हेतु अनेक शिविरों में तथा आश्रमों में रहने का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ। अनेक संतों के बीच रहने का तथा अनेक आचार्यों से, साधुओं से विचार-परामर्श करने का सुअवसर भी प्राप्त हुआ। पिछले अनेक वर्षों से अनेक विद्यालय, अनेक महाविद्यालय, अनेक ग्रंथालय, अनेक तीर्थक्षेत्र, अनेक आश्रम मेरे ठहरने के स्थल बने। आचार्य महाप्रज्ञजी, आचार्य आर्यनंदीजी महाराज, आचार्य विद्यानंदजी महाराज, रमणमहर्षि, विवेकानंद, अरविंद घोष, महेश योगी, श्रीमद् रामचंद्र, ज्ञानेश्वर मठ, प्रेक्षाध्यान केंद्र,



कृष्णमूर्ति, निकम गुरुजी, कैवल्यधाम, योगनिकेतन मेरी लेखनी के प्रेरणा-स्रोत बने। परमेश्वर तथा अनेक पवित्र आत्माओं का वरदान मेरे साथ था।

योग और ध्यान ने मेरे जीवन को संवारा। इस कारण, इसी विषय को लेकर मैंने पीएच.डी. की। योग एक विज्ञान है। योग यथार्थ सत्य और अनुभव पर आधारित है। यह विज्ञान की कसौटी पर खरा उतरता है। जब तक तुम उस तत्त्व को नहीं समझ लेते, जो कि स्वधर्म है, स्वभाव है, जो निकट से भी निकटतम है, तब तक तुम कैसे दूसरे विषयों को समझ सकते हो? अगर व्यक्ति स्वयं को नहीं जानता है, तो अन्य सभी बातें भ्रांतिपूर्ण ही होंगी।

व्यक्ति को स्वयं के भीतर जाना होता है और ध्यान की पूरी प्रक्रिया एक तीर्थयात्रा है, अन्तर्यात्रा है। जो शरीर और मन के पार है, वही हमारा स्वभाव है और वही अस्तित्व का केंद्र भी है। बीज तुम्हारे भीतर विद्यमान है। बीज को केवल सम्यक् भूमि, मिट्टी और खाद-पानी की आवश्यकता है। बीज को तुम्हारे ध्यान की, साधना की आवश्यकता है, जो कि एक सुंदर सुमन की निर्मिति करता है। योग और ध्यान एक नौका है, उस किनारे तक ले जाने के लिए, जहाँ हमारा चित्त निर्मल होकर आत्मा में लीन हो जाए। व्यक्ति जब समस्याओं से घिर जाता है, तब उसके लिए सोचना आवश्यक हो जाता है कि वह अपने चित्त को किस प्रकार शान्त रखे और समस्या का हल निकाले।

चित्त-प्रवाह को किसी एक पवित्र ध्येय के साथ जोड़ना तथा विषयजगत् की ओर धावमान् इन्द्रिय-समूह को एक दिशागामी बनाना ध्यान का मूलभूत उद्देश्य है। ध्यान का प्रमुख विषय आत्मा और उसका निकटतम सहयोगी मन है। इस अन्तर्यात्रा का प्रथम चरण मानसिक है और अन्तिम आत्मदर्शन। आत्मा, यानी स्वस्वरूप तथा अनात्म, यानी परवस्तु। वास्तविक रूप में ये दोनों परस्पर भिन्न

हैं, फिर भी व्यक्ति आत्मा को स्वीकार न करते हुए पर में ममत्व का या मोहबुद्धि का आरोपण कर दुःखी होता है। अनित्य, अशुचि, दुःखमय पदार्थ को नित्य मानना और सुखमय मानना, यही अविद्या का लक्षण है।

ध्यान का अर्थ है— चंचलता का निरोध करना, चंचलता को कम करना। हमारी इन्द्रियाँ जब-जब बाहर जाती हैं, दृश्य को देखती हैं या अपने विषय के साथ संपर्क स्थापित करती हैं और चंचल हो जाती हैं। मन इन्द्रियों के साथ काम करता है। मन की चंचलता इन्द्रियों की चंचलता पर निर्भर है। ध्यान का अंतिम लक्ष्य आत्मा का दर्शन है। हम श्वास को देखें, शरीर को देखें, मूर्ति को देखें, पर वे सारे बाह्य साधन हैं। हमें पहुँचना है, आत्मा तक। हमें स्थूल वस्तु से सूक्ष्म वस्तु पर पहुँचना है। शान्ति की अभीप्सा हर व्यक्ति में होती है। वह शान्ति के लिए प्रयत्न करता है, परंतु मार्ग अस्पष्ट होने के कारण वह उसे प्राप्त नहीं कर सकता है। शास्त्रों में कहा गया है— 'मनैव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः'। मन ही मनुष्यों के बंधन और मोक्ष का कारण है। सौ-सौ तीर्थों की यात्रा करने के बावजूद भी जिसने एक अन्तर्यात्रा कर ली, उसकी बात बनी। अपनी अन्तर की एक तीर्थयात्रा सौ तीर्थों की यात्राओं से श्रेष्ठ है। ध्यान मन को शान्त करेगा, साथ ही बौद्धिक-प्रतिभा और मेधा को भी उजागर करेगा। ध्यान करने वाला व्यक्ति अपनी कार्यक्षमता को, उत्पादन-क्षमता को बढ़ता हुआ महसूस करता है।

'ध्यान दर्पण'— यह किताब आत्मार्षि के हाथ में देते हुए मुझे बहुत आनंद हो रहा है, क्योंकि यह सुलभ भाषा में लिखी गई है। इस किताब से ध्यान का आरम्भ तो कर ही सकते हैं। मैं लेखिका नहीं हूँ, इस कारण जो भी त्रुटियाँ होंगी, वे मेरी कमी के कारण होंगी। आप सभी किताब लिखने का मेरा उद्देश्य ध्यान में रखते हुए मुझे क्षमा करें।

यह जीव अनंत जन्मों से राग द्वेष आदि कर्मों रूपी आवरणों से आच्छादित हो जाने से चारों गतियों में भ्रमण कर रहा है। जैसे—जैसे यह जीव ध्यान की गहराइयों में उतरता चला जाता है, वैसे—वैसे कर्मरूपी आवरण स्वयमेव हटते चले जाते हैं और परम ज्योतिर्मय प्रकाशमान पुंज प्रकट होता है। यही जीव का निजी स्वभाव है। यही ध्यान है, यही आत्म—जागरण है।

शुद्धोऽहं.....शुद्धोऽहं.....शुद्धोऽहं.....

एक आत्मार्थी  
डॉ. विजया गोसावी

## अनुक्रमणिका

1.	ध्यान की महिमा	11
2.	ध्यान और ज्ञान	23
3.	ध्यान क्या है ?	32
4.	ध्यान के मूलसूत्र	34
5.	ध्यान—पद्धति का विलोप	42
6.	तनाव	44
7.	मन की अवस्थाएँ	47
8.	आत्मा	52
9.	आत्माविषयक विभिन्न मत	72
10.	ध्यान की परम्परा	81
11.	ध्यान—विषयक जैन—साहित्य	86
12.	जैन—धर्म में ध्यान—साधना का इतिहास	88
13.	विविध साधना—पद्धति	90
14.	ध्यान के सहायक अंग	93
15.	ध्यान—मुद्राएँ	95
16.	ध्यान के प्रकार	98
17.	प्रेक्षाध्यान : स्वरूप	116
18.	प्रेक्षाध्यान के अंग	119
19.	प्रेक्षाध्यान : प्रयोग	128
20.	ध्यान का फल	133

# ध्यान की महिमा

आध्यात्मिक—जगत् में प्रवेश करना हो, तो ध्यान एक सशक्त प्रभावशाली माध्यम बन सकता है। जब तक स्व का शोधन और संशोधन नहीं होगा, तब तक आत्मा और परमात्मा की उपलब्धि भी नहीं हो सकेगी।

ध्यान से आत्मा की शुद्धि, कषाय की मंदता, एकाग्रता, तनाव से बचाव तथा आत्मदर्शन संभव है। ध्यान के साथ वैराग्य और ज्ञान की नितान्त आवश्यकता है। अगर सिर्फ ध्यान का प्रयोग करोगे, तो सफलता संभव नहीं, परन्तु आत्मज्ञान हो और तीव्र वैराग्य भी उसके साथ हो, तो साध्य तक पहुँच जाओगे। जिस तरह अकेला ज्ञान सफलता प्राप्त करने में सक्षम नहीं है, उसी तरह अकेला ध्यान भी सक्षम नहीं है।

हमारे सामने ध्यान का स्वरूप और ध्यान का प्रयोजन स्पष्ट होना चाहिए। स्वरूप और प्रयोजन की स्पष्टता से ध्यान की अभिरुचि उत्पन्न होती है, ध्यान की दिशा में गति करने का संकल्प जगता है। ध्यान का विकास पुरुषार्थ के बल से होता है। जब—जब ध्यान का प्रयोग चले, तब—तब आपका चित्त एकाग्र रहे, ऐसा सम्पूर्ण अभ्यासकाल में चलता रहे। इतनी तन्मयता और लगन हो जाए कि लक्ष्य तक पहुँचा जाए, तो अतीन्द्रिय चेतना के जागरण की अनुभूति हो सकती है। एक बार अनुभूति हो जाए, तो फिर किसी उपदेश की जरूरत नहीं होती है।

एक शांत समुद्र और एक तूफानी समुद्र है। तूफानी समुद्र में कोई व्यक्ति अपना मुँह देखना चाहे, तो भी दिखाई नहीं देगा।

जब तूफान नहीं, तरंगें नहीं, ऊर्मियाँ नहीं, कल्लोल नहीं,

जल शान्त हो गया, आदमी अपना मुंह देख सकता है। आत्मा को हम समुद्र मान लें। उसके भीतर यह राग और द्वेष का इतना बड़ा बवंडर है कि कोई भी व्यक्ति अपने भीतर देख नहीं सकता। जब यह तूफान, कल्लोल शांत हो जाता है, उस समय ही व्यक्ति आत्मा को देख सकता है। रागद्वेष के कल्लोल वाला आदमी उसे कभी नहीं देख सकता है, जैसा आचार्य पूज्यपाद कहते हैं —

**रागद्वेषादि कल्लोलैरलोलं यन्मनोजलम्।**

**स पश्यतात्मनस्तत्त्वक्तत्वं नेतरो जनः॥**

अगर आत्मा का साक्षात्कार करना है, आत्मप्रदेशों तक पहुंचना है, आत्मा का जो अस्तित्व है, उसके जो चैतन्यमय प्रदेश हैं, वहां तक पहुंचना है, तो विस्तार को धीरे—धीरे कम करना होगा।

यह अज्ञानी प्राणी संसार से डरता है, किन्तु उससे उसे छुटकारा नहीं मिलता है और निरंतर मोक्षसुख को चाहता है, किन्तु चाहने मात्र से मुक्ति की प्राप्ति नहीं होती। फिर भी, भय और काम से वशीभूत होकर वह व्यर्थ ही संसार के कष्ट को पाता है, परन्तु जो जान जाता है, वह संसार से पार हो जाता है।

शरीर हमारा द्वार है, एक दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण है। एक घड़ा है और घड़े में पानी है। प्रश्न है कि घड़े का महत्व है या उसके अन्दर के पानी का? पानी तो महत्वपूर्ण है ही, किन्तु घड़ा नहीं हो, तो पानी कहाँ से? हम आधार को, साधन को गौण नहीं कर सकते। आधेय का अपना मूल्य है और आधार का अपना मूल्य है। आत्मा है— आधेय, शरीर है— आधार।

हमें शरीर को देखना है और इसलिए देखना है कि उसे देखे बिना आत्मा का दर्शन नहीं हो सकता। जो व्यक्ति देखना जानता

है, वह निर्ममत्व या निर्लिप्तता का अभ्यास कर सकता है।

उत्तराध्ययनसूत्र में बड़ा महत्वपूर्ण निर्देश मिलता है। उसमें पूछा गया— भावविशुद्धि से जीव क्या प्राप्त करता है ? उत्तर दिया गया— भावविशुद्धि से जीव निर्भय बनता है। एक व्यक्ति जब जागरूकता का संकल्प करता है, तो फिर भावों की शुद्धि अपने—आप हो जाती है।

हमारे स्थूल शरीर का संचालन कौन कर रहा है ? इस शरीर का संचालन कर रहा है— तैजस—शरीर। तैजस—शरीर के जो स्पंदन हैं, वे हमारी प्राण—ऊर्जा (Vital Force) हैं। जैन तत्त्व— विद्या में दस प्राण बतलाए गए हैं— श्रोत्रेन्द्रिय—प्राण, चक्षुरिन्द्रिय—प्राण, घ्राणेन्द्रिय—प्राण, रसनेन्द्रिय—प्राण, स्पर्शनिन्द्रिय—प्राण, शरीर—प्राण, भाषा—प्राण, मन—प्राण, श्वासोच्छ्वास—प्राण तथा आयुष्य—प्राण। आयुर्वेद और हठयोग में पांच प्राण बतलाए हैं— प्राण, अपान, समान, व्यान और उदान।

हमारे शरीर का संचालन विद्युत् द्वारा हो रहा है। सारी प्रवृत्ति विद्युत् द्वारा हो रही है। शरीर—शास्त्र के अनुसार हमारे मस्तिष्क को २० वॉट विद्युत् की जरूरत होती है। सबसे ज्यादा जरूरत मस्तिष्क को होती है, अपना काम चलाने के लिए। विद्युत् का उत्पादन—केन्द्र है— हमारा तैजस—शरीर। तैजस—शरीर अच्छा रहेगा, तो स्वास्थ्य अच्छा होगा। तैजस—शरीर कमजोर, तो स्वास्थ्य भी कमजोर होगा।

आचारांगसूत्र का एक प्रसिद्ध वाक्य है— 'कर्म—शरीर को प्रकंपित कर।' जब तक कर्म—शरीर प्रकंपित नहीं होगा, तब तक यह स्थूल शरीर प्रकंपित नहीं होगा। हमें ध्यान में पहुंचना है, स्थूल से सूक्ष्म शरीर तक। यह हमारी प्रायोगिक

पद्धति हो गई। उपवास स्थूल शरीर करता है, कष्ट भी स्थूल शरीर को होता है और शोधन कर्म—शरीर में होता है। दोनों में एक संबंध है।

मैंने तो अनेक साधु, विद्वान् और पंडित इसी दशा में देखे हैं, जिन्होंने आगम का सखोल अभ्यास किया है। हर गाथा उन्हें याद है। जिंदगीभर दूसरों को उपदेश देते रहे, सिखाते रहे, परन्तु खुद उसका मर्म नहीं जान पाए। कितनी खोखली दशा है ये! जिसके लिए जीवन समर्पित, उससे ही अनभिज्ञ।

सुख और दुःख— दोनों अपनी—अपनी दृष्टि आधारित हैं। संसार में जितने भी जीव हैं, सभी को दुःख नहीं होता है। कुछ जीव तो अत्यन्त भोग—विलास में जीते हैं। उन्हें तो यह भी पता नहीं की इस बाह्य—जगत् के सिवा भी कोई जगत् है। बेचारे ऐसे ही जीवन जी लेते हैं, पर उन्हें उसकी खिन्नता नहीं होती। कोई बताए, इस अध्यात्म—जगत् के बारे में, तो उन्हें श्रद्धा नहीं होती है। ऐसे जीव सुना—अनसुना कर फिर से उसी संसार के चक्र में फँस जाते हैं।

जेल में देखो, जो कैदी है, जिसने अपराध किया है, जो न्यायनीति से विमुख हुआ है, वही दुःख पाता है, किन्तु वहाँ रहने वाला जेलर इस दुःख से बेखबर है। बंधन और दुःख कैदी के लिए हैं, जेलर के लिए नहीं। इसका अर्थ यही हुआ कि सुख और दुःख का अनुभव करने के पश्चात् व्यक्ति के भावों की भूमिका बनती है। समयसार में आचार्य कुंदकुंद कहते हैं कि कर्मों का उदयमात्र बंध का कारण नहीं है, किन्तु अपने अंदर विद्यमान राग—द्वेष के भाव हैं। वस्तु या पदार्थ बंध के लिए कारण नहीं, परन्तु हमारा लगाव या मोह ही बंध का कारण है। संसार में रहना तो पाप है, अपराध है, परन्तु संसार में लीन होकर रहना महा अपराध है। इससे बचने के अनेक उपाय हैं।



अगर हम धर्म का सहारा लेंगे, तो पावन होंगे।

एक दिन पिता और पुत्र घूमने जा रहे थे। पिता को दर्शनशास्त्र का अभ्यास था। अपने पुत्र से पिता कहते हैं—

**“चलती चक्की देखकर, दिया कबीरा रोय।  
दो पाटन के बीच में, साबुत बचा न कोय।।”**

इसका अर्थ है— दो पाटन के बीच जो दाना है, वह बच नहीं सकता, वह पिसकर ही निकलता है।

यह बात सुनकर पुत्र कहता है—

**“चलती चक्की देखकर, दिया कमाल ठिठोय।  
जो कीली से लग रहे, मार सके नहि कोय।।”**

यह कोई नियम नहीं कि संसार के सारे प्राणी दुःख का ही अनुभव करते रहें, या संसार के सारे प्राणी जन्म—मरण के बीच पिसते रहें। जिसने भी धर्मरूपी कील का सहारा ले लिया है, जिसका जीवन ही धर्म बन गया है, उसे संसार में कोई नहीं अटका सकता है या पिसा सकता है।

असंयमी का जीवन हमेशा कष्टदायक ही रहता है, जैसे गर्मी के दिनों में छाया सुख देती है, पर छाया न हो, तो कोई धर्मवचन भी अच्छा न लगे। ध्यान रहे, असंयमी को देवगति में सुख के सागर में भी संक्लेश सहन करना पड़ता है। ‘विषय—चाह दावानल दहयो, मरत विलाप करत दुःख सहयो।’

संसार में जो सुख मिला है, वह आत्मा द्वारा किए हुए उज्ज्वल और शुभ परिणामों द्वारा है और जो दुःख मिला है, वह अशुभ भावों द्वारा है। सुकमाल मुनि की कथा प्रसिद्ध है। जब वे छोटे थे, तब उनकी माँ ने उन्हें कभी कष्ट नहीं होने दिया। उनका बिस्तर अति मुलायम था। उनके लिए खाने में कमल—पत्रों पर रखे हुए चावल पकाए जाते थे। उनकी अनेक पत्नियाँ थीं।

वे सब उनका बहुत ख्याल रखती थीं। उन्हें रत्नदीपक का प्रकाश मिलता था, क्योंकि सूरज तथा दीपक की रोशनी उनकी आँखों में चुभती थी। एक दिन मुनि के आगमन से उनका जीवन बदल जाता है और वे स्वयं सुकोमल होते हुए भी मुनि बने। अपने घर से बिना कुछ कहे निकल पड़े। सब कुछ संभव होता है, जब आत्मा में ज्ञान और वैराग्य का दीपक प्रज्ज्वलित होता है। मुनि होने के बाद पूर्वभव की भाभी, जो सियारिन बन गई थी, वह अपने बच्चे सहित आई और उन्होंने मुनिराज का शरीर खाना प्रारंभ कर दिया। तीन दिन तक अखंड उपसर्ग चला। धन्य है वह जीव! जिसे सरसों का दाना भी चुभता था, वह यह सब सहता रहा। यह आत्मा के भावों का ही परिणाम है।

यह सब माहात्म्य आत्मा की भीतरी विशुद्धि का है। आत्मानुभूति के समय बाहर भले ही कुछ होता रहे, अंदर तो आनंद—ही—आनंद बरसता है। मैं एक हूँ, दर्शनज्ञानमय हूँ और अरूपी हूँ, अन्य परपदार्थों से मेरा कोई संबंध नहीं। कैसी परिणामों की निर्मलता है! मुनि सुकुमाल ने सवार्थसिद्धि की प्राप्ति की। अल्पकाल में वे मोक्ष—सुख प्राप्त करेंगे।

हम भी ऐसा कर सकते हैं। एकाग्रता तथा ध्यान के द्वारा कषायों की शुद्धि कर शुद्ध आत्मस्वरूप की प्राप्ति संभव है।

आचार्य कहते हैं —

मनमन्दिर में ध्यान लगाकर, कभी न देखा मन में।  
अन्तर्मुख हो निज में निज को, स्वयं देख लो मन में।  
तुम अनादि परिपूर्ण द्रव्य हो, गुण अनन्त के हो तुम स्वामी।  
सर्व सिद्धियों के धारक तुम, चेतन चिदानन्द शिव ग्रामी।  
उर अन्तर को शुद्ध बनाकर, समताभाव हृदय में धर लो।  
सम्यक् ज्ञान जगाकर मन में, निज में निज का दर्शन कर लो।

लोग शरीर के रोगों को मिटाना चाहते हैं, आत्मा के रोग मिटाने की उन्हें चिन्ता नहीं है। शरीर तो पौद्गलिक है, जड़ है। बड़ी बात तो आत्मा में लगा यह कर्ममल का रोग है, जिसके कारण यह जीव बार—बार जन्म—मरण के दुःख उठाता है। उसका एक बार नाश हो जाए, तो जैसे बीज नष्ट होने पर वृक्ष पैदा नहीं होता, उसी प्रकार वह आत्मा शरीर धारण नहीं करेगी। पुराणों में सनत्कुमार चक्रवर्ती की कथा आती है। गृहस्थावस्था में वे अति सुंदर, रूपवान् और शक्तिशाली थे। इन्द्र भी उनकी स्तुति करते थे, परन्तु जब उन्हें कुष्ठ—रोग हुआ, तो वह सुंदर काया कुरूप और वेदनामय बनी। एक देव ने उनकी परीक्षा लेने की ठानी। वे एक वैद्य का रूप लेकर मुनि के सामने उपस्थित हुए और कहने लगे— “मैं सभी रोगों का इलाज कर सकता हूँ, जिस रोग का इलाज कराना हो, वह करा लें।” सनत्कुमार तो आत्मा के रोग की दवा मांगने लगे, तब देव ने अपना रूप प्रकट कर क्षमायाचना की।

मोह, राग, द्वेषादि विकारीभाव ही असली रोग हैं, जिन्हें मिटाने के लिए हम आध्यात्मिक दुनिया में पदार्पण करें। सिद्धों ने भी सिद्ध—दशा प्रकट की, तो निजात्मा का आश्रय लेकर, इसलिए उनकी छवि यही दशानि में निमित्त है कि हमें भी एकमात्र निज आराधना द्वारा स्वयं में वह परमपवित्र दशा प्रकट कर लेना चाहिए।

भरत चक्रवर्ती के पास एक बार एक जिज्ञासु पहुँचा। उसे इस बात में संदेह था कि भरत चक्रवर्ती हैं, उनकी ९६ हजार रानियाँ हैं, फिर भी वे इतने बड़े तत्त्वज्ञ और सम्यग्दृष्टि कैसे हैं? वह चक्रवर्ती के पास पहुँचा और उसने कहा— “प्रभु मैं आपके जीवन का रहस्य जानना चाहता हूँ। मैं एक पत्नी से परेशान हूँ। आप ९६ हजार को कैसे संभालते हैं?” भरत ने कहा, “कल

आओ, मैं तुम्हें इसका उत्तर कल दूँगा।” दूसरे दिन राजा ने उसके हाथ में दीपक दिया और कहा— “इस दीपक के प्रकाश में तुम्हें पूरे नगर का चक्कर लगाना है, पर याद रहे, ये चारों तलवारधारी तुम्हारे चारों ओर हैं। रास्ते में न दीपक बुझे, न तेल की एक बूंद गिरे। यदि दीपक बुझा, तो तुम्हारे जीवन का दीपक बुझेगा और तेल गिरा, तो तुम्हारी गर्दन भी नीचे गिर जाएगी।” बड़ी सावधानी से वह व्यक्ति चक्कर लगाकर आया। राजा ने पूछा— “क्या देखा, नगर में?” उसने कहा— “दीपक और तलवार के सिवा कुछ भी नहीं देखा।” चक्रवर्ती ने कहा— “यही है मेरे जीवन का राज। तुम्हें ये भोग और विलास दिखते हैं, लेकिन मुझे तो अपनी मौत की तलवार दिखती है।”

**आत्मा ज्ञानं स्वयं ज्ञानं ज्ञानात् अन्यत् करोति किं।  
परभावस्य कर्ताऽऽत्मा। मोहोऽयं व्यवहारिणाम्॥**

कोई भी कार्य अपने—आप नहीं होता। सोचो, जब बंधन अपने—आप नहीं होता, तो मुक्ति कैसे अपने—आप हो जाएगी। चोर जब चोरी करता है, तब जेल जाता है। इसी प्रकार, यह आत्मा जब राग—द्वेष करती है, तभी उनसे बंधती है। जेल को बनानेवाला और तोड़नेवाला— दोनों कैदी ही हैं।

प्रत्येक प्राणी सुख चाहता है, स्वतंत्र होना चाहता है, किन्तु स्वतंत्रता के मार्ग को अपनाना नहीं चाहता। बैठे—बैठे आजादी प्राप्त नहीं होगी। एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र की सत्ता से मुक्त होना चाहता है, तो उसे पुरुषार्थ करना पड़ता है। हमें भी स्वतंत्रता के लिए पुरुषार्थ करना पड़ेगा।

**जह गाम कौवि पुरिसो परदव्वमिणं ति जाणिटुं चयदि।  
तह सव्वे परभावे णाऊण विमुञ्चदे णाणी॥  
अर्थ—** जैसे लोक में कोई पुरुष परवस्तु को ‘यह पर वस्तु है’—

ऐसा जानकर उस वस्तु का त्याग करता है, उसी प्रकार ज्ञानी पुरुष समस्त परद्रव्यों के भावों को 'यह परभाव है'— ऐसा जानकर छोड़ देता है।

जिस प्रकार दूध में घी अव्यक्त होता है, शक्तिरूप में विद्यमान है, उसी प्रकार आत्मा में शुद्धि होने की शक्ति विद्यमान है। उस शक्ति को पुरुषार्थ के बल पर व्यक्त करना होगा, तभी हम सच्चे मनुष्य कहलाएंगे। उमास्वाति ने तत्त्वार्थसूत्र के दसवें अध्याय में मोक्ष के स्वरूप का वर्णन किया है। नौवें अध्याय में मुक्त अवस्था कैसे प्राप्त होगी, यह बताया है। जो जीव परपदार्थों का त्याग कर देते हैं और राग—द्वेष को हटाते हैं, वे संसार—सागर से ऊपर उठकर अपने स्वभाव में स्थित होते हैं। दूध में जो घी है— शक्तिरूप विद्यमान है, वह हाथ डालकर निकाला नहीं जा सकता। दूध का मंथन किया जाता है और मंथन के उपरांत भी नवनीत का गोला प्राप्त होता है, जो कि छाछ के अन्दर ही तैरता है। उस नवनीत को तपाकर घी बनाया जाता है, तब वह तैरता है, क्योंकि अब वह शुद्ध हुआ है। जितनी मात्रा में परिग्रह को कम करेंगे, शरीर के प्रति मोह को कम करेंगे, आपका जीवन उतना ही निर्मल होता जाएगा और अपने वास्तविक स्वभाव को प्राप्त करता जाएगा। हम लोगों में भी कुछ घी जैसे, तो कोई नवनीत के रूप में या दूध के रूप में हैं। अब संस्कार होंगे, तब हल्के बनेंगे। आत्मा का स्वभाव उर्ध्वगमन है।

उमास्वाति आचार्य ने कहा है— 'बहु—आरंभ और बहु—परिग्रह रखनेवाला 'नरकगति' का पात्र होता है। बहुत पुरुषार्थ से यह जीव मनुष्य—जीवन पाता है, लेकिन पुनः परपदार्थों में मूर्च्छा, रागद्वेषादि करके नरकगति की ओर चला जाता है। पुरुष का पुरुषार्थ उसे नरक की ओर भी ले जा सकता है और यदि वह चाहे, तो मोक्ष—पुरुषार्थ के माध्यम से लोक के अग्रभाग तक

जाने की क्षमता प्राप्त कर सकता है।

आत्मा—परमात्मा इंद्रियातीत तत्त्व हैं। हालांकि तर्क एवं बुद्धि से उसका अस्तित्व सिद्ध है, फिर भी वह इन्द्रियों से प्रत्यक्ष में अनुभव न किया जाए, ऐसा तत्त्व है। इसका अनुभव करने के लिए इंद्रियातीत शक्ति और सामर्थ्य का होना आवश्यक है। इसका साक्षात्कार होने के बाद मानव अपने—आप को दुःखी, पीड़ित और अशान्त नहीं समझता। कष्ट, अशांति और पीड़ा उसे स्पर्श तक नहीं करतीं।

अतीन्द्रिय पदार्थों का निर्णय करने में आज तक दिग्गज पंडित और बुद्धिमान् सफल नहीं हुए हैं। शास्त्र और विद्वान् तो मात्र दीप—स्तम्भ हैं, अतः सिर्फ उनसे जुड़े रहने से कार्य सिद्ध नहीं होता। उनके मार्गदर्शन में हमें अपना मार्ग खोजना है।

**केषां न कल्पनादेवी शास्त्रक्षीरान्नगाहिनी।**

**विरलास्तद्रसास्वादविदो ऽअनुभवजिह्वायाः॥**

**अर्थ—** किसी की कल्पना शास्त्ररूपी खीर में प्रवेश नहीं कर सकती, लेकिन अनुभवरूपी जीभ से शास्त्रस्वाद को जानने वाले विरले ही होते हैं।

उपाध्याय यशोविजयजी ज्ञानसागर में कहते हैं— “तार्किक बुद्धि से शास्त्रों को उलटते—पुलटते रहोगे, उससे कोई शास्त्रज्ञान का रसास्वाद अनुभव नहीं कर सकोगे। इतना ही नहीं, बल्कि शास्त्रों की तार्किकता के पलड़े में तोलने में ही जीवन पूर्ण हो गया, तो अंतिम समय में खेद होगा कि सचमुच मैं दुर्भागी अभागा हूँ कि कभी मेहनत कर खीर पकायी, लेकिन उसका स्वाद लूटने का मौका ही न मिला।”

जिस तरह समस्त विश्व इंद्रियातीत नहीं है, ठीक उसी तरह सकल विश्व इन्द्रियों द्वारा नहीं जाना जा सकता। विश्व से

सम्बन्धित ऐसी कई बातें हैं, जिनका साक्षात्कार हमारी किसी भी इन्द्रिय के द्वारा नहीं हो सकता। ऐसे ही तत्त्वों और पदार्थों को 'अतीन्द्रिय' कहा गया है।

ऐसे अतीन्द्रिय पदार्थों के वास्तविक स्वरूप का निर्णय मानव किस तरह कर सकता है ? भले ही वह विद्वान् हो या अत्यंत बुद्धिमान्। विद्वान् अथवा बुद्धिमान् अतीन्द्रिय पदार्थों का दर्शन नहीं कर सकता। आज के युग में किसी भी बात अथवा तत्त्व को तर्क या बुद्धि के माध्यम से समझाने का आग्रह बढ़ता जा रहा है। बुद्धि और तर्क से समझा जाए और इन्द्रियों से जिसका अनुभव किया जा सके, उसे ही स्वीकार करने की वृत्ति प्रबल होती जा रही है। बुद्धि अपने—आप में कभी परिपूर्ण नहीं होती, वह अपूर्ण ही होती है, अतः पूर्ण चैतन्य के साक्षात्कार के बिना, अथवा उस पर श्रद्धा प्रस्थापित किए बिना किसी समस्या का हल असंभव है।

**अतीन्द्रियं परं ब्रह्म विशुद्धानुभवं बिना।**

**शास्त्रयुक्तिशनेनापि न गम्यं यद् बधाजगुः॥**

**अर्थ—** पंडितों का कहना है कि इन्द्रियों से अगोचर परमात्मा का स्वरूप विशुद्ध अनुभव के बिना समझना असंभव है, फिर भले ही उसे समझने के लिए तुम शास्त्र की सैकड़ों युक्तियों का प्रयोग करो।

इन्द्रियों की इतनी शक्ति नहीं है कि वे शुद्ध ब्रह्म को समझ सकें। किसी भी प्रकार के आवरणों से रहित विशुद्ध आत्मा का अनुभव करने की क्षमता बेचारी इन्द्रियों में कहां संभव है? अर्थात् कान शुद्ध ब्रह्म की ध्वनि सुन न सकें, आँखें उसके दिव्य रूप को देख न सकें, नाक उसको सूँघ न सके, जिह्वा उसका स्वाद न ले सके और चमड़ी उसका स्पर्श कर न सके।

शास्त्रों की युक्ति—प्रयुक्तियाँ और तर्क भले ही आत्मा का अस्तित्व सिद्ध करें, बौद्धिक—कुशाग्रता भले ही नास्तिक हृदय में आत्मा की सिद्धि प्रस्थापित कर दे, लेकिन यह निर्विवाद सत्य है कि आत्मा को जानना शास्त्र के बस की बात नहीं है।

आत्मा को समझा जा सकता है, विशुद्ध अनुभव से। आत्मा का अनुभव किया जा सकता है, इन्द्रियों के उन्माद से मुक्त होकर। आत्मा को प्राप्त किया जा सकता है, शास्त्र और तर्क से ऊपर उठकर।

**णाहं होमि परेसिं, ण मे परे संति णाणमहमेक्को।**

**इदि जो ज्ञायदि ज्ञाणे, सो अप्पाणं हवदिं ज्ञादा॥**

**अर्थ—** वही श्रमण आत्मा का ध्याता है, जो ध्यान में चिन्तन करता है कि 'मैं' न 'पर' का हूँ, न 'पर' पदार्थ या भाव मेरे हैं, मैं तो एक ज्ञानमय हूँ।

जिसने आत्मा को जानने—समझने और पाने का मन—ही—मन दृढ़ संकल्प किया है, उसे इन्द्रियों के कर्णभेदी कोलाहल को शांत—प्रशांत करना चाहिए, शब्द, रूप, रस, गंध और स्पर्श की दुनिया से मन को दूर—दूर अनजाने प्रदेश में ले जाना चाहिए, तभी विशुद्ध अनुभव की भूमिका प्राप्त होगी। हमें आत्मा के अलावा दूसरे को पहचानने की जिज्ञासा नहीं होना चाहिए। आत्मा—प्राप्ति के सिवाय अन्य कोई प्राप्ति की तमन्ना नहीं होना चाहिए, अन्यथा आत्मानुभव का पावन क्षण प्रकट होना दुर्लभ है।

**ध्यानात् आत्मानुभूतिश्च।**

**ध्यानात् सम्यक्त्वामिश्यते॥**

**ध्यानाम् विज्ञान चारित्रं।**

**ध्यानं मोक्षस्य कारणं॥**



# ध्यान और ज्ञान

ध्यान ज्ञान की ही एक अवस्था है।

**“व्यग्र चित्तं ज्ञानं एकाग्रचित्तं ध्यानं।”**

मन की जो चंचल वृत्ति है, वह ज्ञान है और स्थिर वृत्ति ध्यान है। ध्यानशतक में इस आशय को स्पष्ट किया गया है।

**“जं थिरमज्झवसाणं ज्ञाणं तं चलं—तयं चित्तं।”**

जो स्थिर चैतन्य है, वह ध्यान है और जो चल चैतन्य है, वह चित्त है। बर्फ को जल से भिन्न नहीं कहा जाता है। जब पानी तरल अवस्था में होता है, तब जल कहलाता है। वही घनीभूत होकर बर्फ कहलाता है। ज्ञान और ध्यान की यही स्थिति है। स्वाध्याय ध्यान का मूल है। इससे ध्यान के विषय में सहायता मिलती है। जिसका आत्मविचार स्पष्ट नहीं है, जिसे आत्मा का स्वरूप पता नहीं है और जिसे आत्मा और शरीर के भेद—ज्ञान का बोध नहीं है, वह ध्यान की उत्कृष्ट भूमिकाओं में कैसे प्रवेश कर सकेगा ? इसलिए ध्यान के मूल के रूप में स्वाध्याय का महत्व है। दीपक हवा में रखा है, उस समय उसकी लौ बहुत चंचल होती है। उसे कमरे के भीतर निर्वात—प्रदेश में रख देने पर उसकी लौ स्थिर, शांत हो जाती है। तेल या घी के समाप्त होने पर दीपक बुझ जाता है, लौ समाप्त हो जाती है। दीपक की पहली अवस्था चंचल है, दूसरी स्थिर और तीसरी अवस्था निरुद्ध है। इसी तरह ज्ञान की तुलना हवा में रखे हुए दीपक से की जा सकती है।

पतंजलि ने ध्यान का लक्षण बताते हुए लिखा है— जहाँ चित्त को लगाया जाए, उसी में चैतसिक वृत्ति की एकाग्रता,

अविच्छिन्न रूप में स्थितिशीलता ध्यान है, या ध्येय वस्तु में चित्त का एकतान होना ध्यान है। सीधी भाषा में मन का एक विषय पर स्थिर हो जाना ध्यान है। पतंजलि ध्यान का अर्थ करते हुए कहते हैं कि “योगश्चित्तवृत्ति निरोध”, अर्थात् चित्त की वृत्तियों का निरोध हो जाना ध्यान—योग है। इसका अर्थ मन को शून्य बना देना, मन को गतिहीन बना देना है। ध्यान में ध्येय के साथ अविच्छिन्न संबंध हो जाता है।

संस्कृत की एक धातु है— ‘ध्याँ चिन्तायाम्।’ ध्यान शब्द इससे उत्पन्न हुआ है और इस धातु के अनुसार ध्यान शब्द का अर्थ होता है— चिन्तन। चिन्तन का एक प्रवाह चंचलता की ओर जाता है, जबकि ध्यान का प्रवाह स्थिरता की ओर जाता है। इसी आधार पर तत्त्वार्थसूत्र में उमास्वाति ने कहा— “एकाग्र चिन्ता निरोध ध्यानम्”, अर्थात् एक आलम्बन पर चिन्तन को रोके रखना ध्यान है।

संसार की अनेक वस्तुएँ मनुष्य के सामने होती हैं, किन्तु वह उन सबका निरीक्षण नहीं कर पाता है, वह एक समय में एक ही वस्तु का निरीक्षण कर सकता है।

विज्ञान में ध्यान (Attention) को अवधान कहा है। मस्तिष्क के अंदर एक शक्ति है, जो किसी भी वस्तु का निरीक्षण कर उस पर विचारशक्ति को केंद्रित कर देती है। यह स्थिर प्रक्रिया ध्यान—केन्द्र में होती है। इस स्थैर्य का नाम ध्यान है।

मन, वचन, काय की एकाग्रता योग है। आत्मा में एकाग्रता ध्यान है। आत्मतत्त्व की प्राप्ति न हो, तो अध्ययन चाहे कितना भी हो, सब व्यर्थ है। जब तक विकल्पों से मुक्त होकर ध्यान—मग्न नहीं हों, तब तक कर्म—बंध ही होता है।

पद्मपुराण में लिखा है कि केवल आँखें बंद कर, मौन

रहकर बैठे और अंतरंग में संकल्प—विकल्पों का जाल बिछा हो, तो वह ध्यान नहीं है, योग भी नहीं है। जैसे—

एक छोटी सुई है, धागा कुछ मोटा है। उस धागे को सुई में पिरोना है। यदि हाथ हिल जाए, तो धागा पिरोया नहीं जा सकता। बहीखाता लिखने वाला थोड़ी चंचलता से हिसाब में गलती कर सकता है।

ध्यान के बिना रोटी जलती है। मन से स्थिर होकर सुई के छिद्र की ओर एकाग्र हो जाएंगे, तभी धागा पिरोया जा सकेगा, लक्ष्य की प्राप्ति हो सकेगी। इसी प्रकार, ध्यान करते समय 'मेरी आत्मा चैतन्य—स्वरूप है, यह शेष रहे और बाकी सब छूट जाए, ऐसी भावना हो', तभी लक्ष्य की ओर अग्रसर होंगे।

**ज्ञाणद्विओ हु जोई, जइणो संवेय गिययअप्पाणं।  
तो ण लहइ तं सुद्धं, भग्गविहीणो जहा रयणां॥**

**अर्थ—** ध्यान में स्थित योगी यदि अपनी आत्मा का संवदेन नहीं करता, तो वह शुद्ध आत्मा को प्राप्त नहीं कर सकता; जैसे कि भाग्यहीन व्यक्ति रत्न प्राप्त नहीं कर सकता।

वही श्रमण आत्मा का ध्याता है, जो ध्यान में चिन्तन करता है कि मैं न 'पर' का हूँ, न 'पर' पदार्थ या भाव मेरे हैं, मैं तो एक शुद्ध—बुद्ध ज्ञानमय चैतन्य हूँ। ध्यान करनेवाला साधक पिंडस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातित— इन चारों अवस्थाओं की भावना करे। पिंडस्थ—ध्यान का विषय है— केवलित्व, अर्थात् कैवल्य—स्वरूप का अनुचिंतन। रूपातित ध्यान का विषय है— शुद्ध आत्मा।

हे भव्य! तुझे अन्य व्यर्थ ही कोलाहल करने से क्या लाभ है ? तू इस कोलाहल से विरक्त हो और एक चैतन्यमात्र वस्तु को स्वयं निश्चल, लीन होकर देख। ऐसा छह मास अभ्यास

कर और देख कि ऐसा करने से अपने हृदय—सरोवर में जिसका तेज—प्रताप प्रकाश—पुद्गल से भिन्न है— ऐसी उस आत्मा की प्राप्ति होती है या नहीं ?

यदि अपने स्वरूप का अभ्यास करें, तो उसकी प्राप्ति अवश्य होती है, यदि परवस्तु हो, तो उसकी प्राप्ति तो नहीं होती। अपना स्वरूप तो विद्यमान है, किन्तु वह पहचाना नहीं जा रहा है, यदि सावधान होकर देखें, तो वह अपने निकट ही है। यहाँ छह मास के अभ्यास की बात कही गई है, इसका अर्थ यह नहीं समझना चाहिए कि इतना ही समय लगेगा। उसकी प्राप्ति तो अंतर्मुहूर्त मात्र में ही हो सकती है, परन्तु यदि शिष्य को बहुत कठिन मालूम होता हो, तो उसका निषेध किया गया है। यदि समझने में अधिक काल लगे, तो छह मास से अधिक नहीं लगेगा, इसलिए यहाँ यह उपदेश दिया गया है कि अन्य निष्प्रयोजन कोलाहल का त्याग करके इसमें लग जाने से शीघ्र ही स्वरूप की प्राप्ति हो जाएगी।

जैसे कालिमा से भिन्न स्वर्ण है, दही से भिन्न शकर है, पलंग से भिन्न उस पर सोने वाला व्यक्ति है, उसी प्रकार मोहादि समस्त संयोग से तथा कर्मादि समस्त विभावों से भिन्न ज्ञायक स्वभावी आत्मा का सब प्रकार के कोलाहल को छोड़कर अनुभव करने का छह मास अभ्यास करने वाले को आत्मा के स्वरूप की अवश्य प्राप्ति होगी। अपना आत्मस्वरूप तो सदा विद्यमान है। उसकी प्राप्ति तो अंतर्मुहूर्त में ही हो सकती है।

प्रथम तो श्रुतज्ञान के अवलंबन से अपने ज्ञान स्वभाव के अस्तित्व का निश्चय करें। फिर, आत्मा की प्रत्यक्ष प्रकटरूप प्राप्ति के लिए ऐसी सर्व इन्द्रियों तथा मन के माध्यम से प्रवर्तमान बुद्धियों को समेटकर मतिज्ञान को आत्मा के सम्मुख करें तथा अनेक प्रकार के नय पक्षों के अवलंबन से होने वाली

आकुलता को उत्पन्न करने वाली श्रुतज्ञान की बुद्धियों को समेटकर श्रुतज्ञान को भी आत्मा के सम्मुख करें, तब अत्यन्त विकल्पशून्य होकर, उसी समय अपने निजरस से ही व्यक्त होकर, आदि—अंत से रहित होकर, अनाकुल केवल एक संपूर्ण विश्व के ऊपर तैरने वाले— ऐसे अखण्ड वीतराग विज्ञानमय परमात्मस्वरूप समयसार (निजात्मा) का जब अनुभव किया जाता है, तब आत्मा का अस्तित्व सम्यक् प्रकार से देखा जा सकता है।

पहले आत्मा के आगमरूप मतिज्ञान को ज्ञानमात्रा में मिलाकर तथा श्रुतज्ञानरूपी नयों के विकल्पों को मिटाकर, श्रुतज्ञान को भी निर्विकार करके एक अखण्ड प्रतिमास का अनुभव करना ही 'सम्यग्दर्शन' और 'सम्यग्ज्ञान' के नाम को प्राप्त करता है।

समयसार की गाथा में लिखा है कि जिस प्रकार पानी वस्त्र पर लगे मैल का शोधन करता है, अग्नि लौह पर लगे हुए कीट का अपनयन करती है और सूर्य धरती पर पड़े कीचड़ का शोषण करता है, वैसे ही जीवरूपी वस्त्र, लोह और धरती पर लगे कर्ममल, कलंक और पंक का शोधन, शोषण करने में ध्यानरूप जल, अनल और सूर्य समर्थ हैं।

जैसे रोग का निदान चिकित्सा से होता है, वैसे ही कर्मरूपी रोग का शमन भी ध्यान, अनशन आदि योगों से किया जाता है। जिस प्रकार पवन से प्रेरित अग्नि ईंधन को जलाती है, वैसे ही ध्यान पवन से कंपित कर्मरूपी बादल अन्तर्ध्यान हो जाता है।

आचार्य रामसेन लिखते हैं—

**स्वाध्यायात् ध्यानमध्यास्तां ध्यानात् स्वाध्यायमामनेत्।  
ध्यानं स्वाध्यायसम्पत्त्या, परमात्मा प्रकाशते॥**

स्वाध्याय के पश्चात् ध्यान और ध्यान के पश्चात् स्वाध्याय, इस प्रकार स्वाध्याय और ध्यान की पुनरावृत्ति से परमात्मस्वरूप उपलब्ध होता है। यह परंपरा बहुत पुरानी है।

महावीर भगवान् उत्कट आदि आसनों में स्थित और स्थिर होकर ध्यान करते थे। वे ऊँचे—नीचे और तिरछे लोक में होने वाले पदार्थों को ध्येय बनाते थे। उनकी दृष्टि आत्मसमाधि पर टिकी हुई थी। वे संकल्प—मुक्त थे।

हे ध्याता! तू न तो शरीर से कोई चेष्टा कर, न वाणी से कुछ बोल और न मन से कुछ चिन्तन कर, इस प्रकार त्रियोग का निरोध करने से तू स्थिर हो जाएगा, तेरी आत्मा आत्मरत हो जाएगी, यही परमध्यान है। जिसका चित्त इस प्रकार के ध्यान में लीन है, वह आत्मध्यानी पुरुष कषाय से उत्पन्न ईर्ष्या, विषाद, शोक आदि मानसिक दुःखों से बाधित नहीं होता।

ध्यान की छोटी—सी चिनगारी असंख्यात कर्मों को जलाने में समर्थ है। ध्यान के साथ—साथ परम ज्ञान आवश्यक है। विकल्पों को सहज भाव से रोकना ध्यान है।

हम जीवन की किन सीमाओं में जी रहे हैं, जीवन को किस संकीर्ण झरोखे से झांककर देख रहे हैं, शायद हमें पता नहीं। पता भी हो, तो असहाय हैं। उस मुक्ति की ओर जाने के लिए जरूरी है, उस महावीर भगवान् के दिए हुए संकेत का पालन करना।

उनके इस प्रयोगात्मक, साधनामय जीवन का केन्द्रबिन्दु, उनकी साधना का मूल आधार था— 'ध्यान'। ध्यान एवं कायोत्सर्ग के संगम ने उनके व्यक्तित्व को निखारा। अंतर को पखारा, वीतरागता की परम ऊँचाइयों का उन्होंने स्पर्श किया। उनकी ध्यान—साधना सावलम्ब और निरावलम्ब— दोनों प्रकार की रहीं।

नासाग्रन्यस्तनयनः प्रलम्बित भुजद्वयः।

प्रभुः प्रतिमया तत्र तस्थौ स्थाणुरिव स्थिरः॥

अर्थात्, नासिका के अग्रभाग पर दृष्टि को स्थिर कर, दोनों हाथों को लम्बे किए हुए भगवान् स्थाणु की तरह ध्यान में अवस्थित हुए। ध्यान, यह जागरण और निद्रा— दोनों से अलग तीसरी अवस्था है। वह निद्रा के समान शिथिल है, तो जागरण के समान चेतन, अर्थात् निद्रा के समय जो शिथिलता होती है, वैसी ही शिथिलता ध्यान के समय होना चाहिए तथा जागरण के समय जो चेतनता होती है, वैसी ही चेतनता ध्यान के समय भी होना चाहिए। इस तरह ध्यान में नींद की शिथिलता व जागरण की चेतनता का सहज समन्वय है और इस समन्वय हेतु अति उपयोगी है— नासाग्रदृष्टि। सम्भवतः, इसी तथ्य को लेकर महावीर ने नासाग्रदृष्टि का अभ्यास किया, साथ ही ध्यान के समय वे अपने शरीर को शिथिल रखते थे। दोनों लम्बे किए हुए हाथ, सटे हुए पाँव और थोड़ा आगे की ओर झुका हुआ मस्तिष्क।

पुष्पाभिमुहो उत्तरमुहो व, होउण सुइ—समायारो।

झाया समाहिजुत्तो, सहासणत्थो सुइसरिरो॥

अर्थ— पूर्व या उत्तर दिशाभिमुख होकर बैठने वाला, शुद्ध आचार तथा पवित्र शरीर वाला ध्याता सुखासन में स्थित हो समाधि में लीन होता है।

शरीर का शिथिलकरण तनावमुक्त मन की निहित आवश्यकता है। ध्यान के समय शरीर ऐसे शिथिल होना चाहिए, जैसे खूटी पर टंगा हुआ कुर्ता। खूटी पर कुर्ता टंगने पर मध्य में वह बिल्कुल सीधा रहता है तथा आस—पास से पूरा झुक जाता है, वैसे ही ध्यान—साधना में मध्य के रज्जु को सीधा रखना

चाहिए; कमर, पीठ, ग्रीवा और मस्तिष्क एक सीधी रेखा में हों, दोनों कंधे और हाथ झुके हुए तथा समग्र अवयव शिथिल हों। इस प्रकार शिथिलकरण शरीर को तनावमुक्त कर मन के एकीकरण हेतु प्रारंभिक भूमिका तैयार करता है, जिससे मन के स्व-समाहित होने में सहयोग मिलता है, अतः शरीर की और से ध्यान को पूर्णतः हटाने हेतु शरीर का तनावरहित, पीड़ारहित होना आवश्यक है। इसी उद्देश्य को लेकर ध्यान के पूर्व शरीर को पूर्णतः शिथिल कर दिया जाता है, जैसे भगवान् महावीर करते थे। आचार्य हेमचन्द्र भी यही कहते हैं कि आसानी से बैठ सकें, वैसे ही आसन का चुनाव करें। साढ़े बारह वर्ष के साधनाकाल में ४५१५ दिनों में उन्होंने केवल ३४१ दिन ही आहार लिया। महावीर आत्म-ध्यान में इतने लीन हो गए कि शरीर की अनुभूति और भूख-प्यास ही नहीं रही। एक बार तो वे निरन्तर छह महीने तक बिना आहार व पानी के रहे।

आहार के सम्बन्ध में महावीर ने अनेक प्रयोग किए, उनमें से एक प्रयोग था, आठ महीने तक रूक्ष आहार ग्रहण करने का। उस समय उन्होंने पानी भी अल्पमात्रा में लिया। रूक्ष आहार व अल्पमात्रा में पानी लेने से तथा आतापना ग्रहण से तेजस्-शरीर का विकास होता है, साथ ही वीर्य भी सूखकर ओजरूप में परिणत होता है। जितना हम रसयुक्त भोजन करते हैं, जल का अधिक उपयोग करते हैं, देह में उतनी ही आर्द्रता आती है। जितना आहार अल्प व रूक्ष होगा, निद्रा भी उतनी ही कम होगी। आचारांग में लिखा है— भगवान् बहुत अल्प निमेष-उन्मेषमात्र निद्रा लेकर फिर जाग्रत हो जाते थे। भगवान् प्रायः मौन ही रहते थे। किसी के पूछने पर, न पूछने पर भी वे नहीं बोलते थे। मौन जीवन की बहुत बड़ी शक्ति होती है। भगवान् ने एकान्त स्थान पर साधना की, जैसे— १. खण्डहर २. सभा ३. प्याऊ ४.



दुकान ५. कारखाने ६. मंच ७. यात्रीगृह ८. आरामगृह ९. गांव  
और नगर १०. श्मशान ११. शून्यगृह १२. वृक्ष के नीचे।

भगवान् ने अधिकांश समय खड़े रहकर ही ध्यान किया। वे  
कायोत्सर्ग में शरीर को शिथिल कर खड़े हो जाते। इसके  
अलावा उन्होंने वीरासन, गोदुहिकासन, उत्कुटासन में भी साधना  
की।

**सिद्धक्षेत्रे महातीर्थ पुराण पुरूणाश्रिते।**

**कल्याण कलिते पुण्ये ध्यान सिद्धिः प्रजायते।**

ध्यान के लिए सिद्धक्षेत्र, निर्वाण—भूमि, तीर्थकर कल्याण—भूमि  
योग्य है। कुछ साधक तो शून्यगृह, श्मशानभूमि, नदी का  
संगमस्थल, सिद्धकूट, नदी का किनारा, किला, वृक्ष के नीचे भी  
ध्यान करना पसंद करते हैं।

●

## ध्यान क्या है ?

वर्तमान पर्याय के प्रति अनासक्त होकर जो जीवन का सुखद अनुभव होता है, उसका नाम ध्यान है।

जे अणण्णदंसी, से अणण्णारामे,  
जे अणण्णारामे, से अणण्णदंसी।

जो अन्य नहीं है— ऐसा निज अस्तित्व ही सचमुच में अनन्य आत्मा का सद्भाव है। उसे जो देखता है, वही परमार्थ से उस अनन्य आत्मा के अस्तित्व में रमण करता है। जो अनन्य में रमण करता है, वह अनन्य को देखता है। प्रथम आत्मा को देखना ही सम्यक्दर्शन है, उसे जानना ही सम्यक्ज्ञान है, उसमें रमण करना ही सम्यक्चारित्र है।

### संपिक्खए अप्पगमप्पएणं

आत्मा से आत्मा को देखो। प्रेक्षाध्यान का यह मुख्य वाक्य है। विश्व का प्रत्येक व्यक्ति एक—दूसरे के प्रति किसी—न—किसी रूप में आसक्ति के परिणाम वाला पाया जाता है। वह आसक्ति ही उसके दुःख का हेतु है। जब वह आसक्तिरूप विभाव—परिणाम और अनासक्तिरूप ज्ञान—परिणाम— इन दोनों को भिन्न—भिन्न रूप से जान लेता है, देख लेता है, तब से आसक्ति का विभाव—परिणाम विसर्जित होने लगता है। अब उसे आसक्ति कर्म—रूप नहीं रही, ज्ञेयरूप हो गई है, इसलिए जैसे—जैसे देखना और जानना बलवान् होता है, वैसे—वैसे सारे कर्म—संस्कार क्षीण होते जाते हैं, उनके क्षीण होने से आत्मा सदा ही सबको एक साथ देखने—जानने की क्षमता रखती है। इस हेतु से तीर्थंकर महावीर की साधना—पद्धति में देखना—जानना सर्वश्रेष्ठ

है। इस देखने—जानने के स्वभाव को, स्वच्छ और स्वस्थ पद्धति को ही 'ध्यान' कहते हैं।

**पुरिसा! अन्ताणमेव अभिणिगिज्झ, एवं दुक्खा पमोक्खसि।**

आत्मा शब्द का प्रयोग चैतन्य पिण्ड के अर्थ में होता है। अभिनिग्रह का अर्थ है— समीप जाकर पकड़ना। जो व्यक्ति मन के समीप जाकर उसे पकड़ लेता है, उसे जान लेता है, वह सब दुःखों से मुक्त होता है। निकटता से जान लेना ही वास्तव में पकड़ना है। नियंत्रण करने से प्रतिक्रिया पैदा होती है।



# ध्यान के मूल सूत्र

देहविक्रितं पेच्छइ, अप्पाणं तह य सव्वसंजोगे।  
देहोवहिवोसगं निस्संगो सव्वहा, कुणइ॥

— समणसुत्तं, १२

**अर्थ—** ध्यान—योगी अपनी आत्मा को शरीर तथा समस्त बाह्य—संयोगों से भिन्न देखता है, अर्थात् देह तथा उपधि का सर्वथा त्याग करके निःसंग होता है।

णाहं होमि परेसिं, ण मे परे संति णाणमहमेक्को।  
इदि जो ज्ञायदि ज्ञाणे, से अप्पाणं हवदि ज्ञादा।

— समणसुत्तं, १३

**अर्थ—** वही श्रमण आत्मा का ध्याता है, जो ध्यान में यह चिन्तन करता है कि 'मैं' न 'पर' का हूँ, न 'पर' पदार्थ या भाव मेरे हैं, मैं तो एक ज्ञानमय हूँ।

अवि ज्ञाइ से महावीरे, आसणत्थे अकुक्कुए ज्ञाणं।  
उड्ढमहे तिरियं च पेहमाणे समाहिमपडिण्णे॥

— समणसुत्तं, ६

**अर्थ—** भगवान् उत्कुटासन आदि आसनों में स्थित और स्थिर होकर ध्यान करते थे। वे ऊँचे—नीचे और तिरछे लोक में होने वाले पदार्थों को ध्येय बनाते थे। उनकी दृष्टि आत्मा—समाधि पर टिकी हुई थी। वे संकल्प—मुक्त थे।

मा चिड्ढह मा जंपह, मा चिन्तह किं पि जेण होई थियो।  
अप्पा अप्पाम्मि रओ, इणमेव परं हवे ज्ञाणं॥

— समणसुत्तं, १८

**अर्थ—** हे ध्याता! तू न तो शरीर से कोई चेष्टा कर, न वाणी से कुछ बोल और न मन से कुछ चिन्तन कर। इस प्रकार योग का निरोध करने से तू स्थिर हो जाएगा, तेरी आत्मा आत्मरत हो जाएगी। यह परम ध्यान है।

**अन्नं इमं शरीरं, अन्नोऽहं बंधवावि मे अन्ने।**

**एवं नाऊण खमं, कुसलस्स न तं खमं काळं ?**

— समणसुत्तं, १५ गा. ५१९

**अर्थ—** यह शरीर अन्य है, मैं अन्य हूँ, बन्धु—बांधव भी मुझसे अन्य हैं, ऐसा जानकर कुशल व्यक्ति उनमें आसक्त न हो।

**मा चिद्धह मा जंपह मा चिन्तह किंवि जेन होइ थिरो।**

**अप्पा अप्पम्मि रओ इणमेव परं हवे ज्झाणं।**

— द्रव्यसंग्रह, ५६

**अर्थ—** हे भव्यों! कुछ भी चेष्टा मत करो, कुछ भी मत बोलो, कुछ भी चिन्तन मत करो, जिससे आत्मा निजात्मा में तल्लीन रूप से स्थिर हो जाए। यह आत्मा में लीनता ही परमध्यान है।

**जह जाण कोवि पुरिसो परदव्वमिणं ति जाणिटुं चयदि।**

**तह सव्वे परभावे णाऊण विमुञ्चदे णाणि।**

— समयसार, गाथा ३५

**अर्थ—** जैसे लोक में कोई पुरुष परवस्तु को यह 'परवस्तु है'— ऐसा जानकर परवस्तु का त्याग करता है, उसी प्रकार ज्ञानी पुरुष समस्त परद्रव्यों के भावों को 'यह परभाव है'— ऐसा जानकर छोड़ देता है।

## विभिन्न मत प्रणाली—

भारतवर्ष का गगन अनेक ऋषि—मुनियों से आलोकित है, जिसमें एक चमचमाता हुआ, तेजोमय सितारा है— ‘महर्षि रमण’ जिन्होंने प्रकटमान् सत्यों में, अपने माने हुए अस्तित्व को, वास्तविक ‘मैं’ को पहचान लिया।

व्यक्ति हरदम स्वयं को शरीर मानकर ही अपनी आयु एवं अन्य व्यक्तियों के साथ स्थापित पिता—पुत्र, पति—पत्नी, भाई—बहन इत्यादि सम्बन्ध के रूप में स्वयं का परिचय देता है। शरीर में व्याधि उत्पन्न होने पर स्वयं को रोगी, शरीर में पीड़ा होने पर पीड़ित, आँखों से दिखाई नहीं देने पर अंधा, भूख लगने पर भूखा कहता है। यह सभी तत् वस्तुओं के साथ जुड़े हुए स्वयं के तादात्म्य को दर्शाता है और इसी तादात्म्य के कारण अपने अस्तित्व को भूलकर वह तत् वस्तुओं में अपना वास्तविक, परमार्थिक अस्तित्व मानता है, पर इस शरीर और अन्य वस्तुओं का ज्ञान रखने वाला ‘मैं’ इस शरीर से भिन्न है।

महर्षि रमण के अनुसार उपधियों का त्याग कर देने वाले पुरुष को आत्म—दर्शन होता है और यह आत्म—दर्शन ही ईश्वर—दर्शन है। अहम्—बुद्धि का त्याग कर ‘मैं सच्चित्स्वरूप हूँ’— इस ज्ञान द्वारा स्वरूप में स्थित हो जाना ही आत्मदर्शन है, क्योंकि ये दो आत्माएँ नहीं हैं, जो एक—दूसरे को देखेंगी। आत्मा बुद्धि के ज्ञान का विषय नहीं बन सकती और जो स्वयं ज्ञान—स्वरूप है, उसे जानने के लिए अन्य प्रमाण की आवश्यकता भी नहीं है और न ही ऐसा प्रमाण उपलब्ध ही है।

अतः, आत्मज्ञान का अर्थ है— ‘मैं स्वयं चैतन्यमय हूँ, स्वयं प्रकाशस्वरूप हूँ।’ इस प्रकार, स्वरूप में स्थित हो जाना ही आत्मज्ञान है।

महर्षि कहते हैं— “मेरा स्वरूप क्या है?” ऐसा विचार करने पर धीरे—धीरे व्यक्ति सद्स्वरूप की ओर प्रगतिमान् होता है और आत्म—दर्शन पाता है, तब उसे यह ज्ञात होता है कि ‘मैं अव्यय, अभय, आपूर्णचित्सुखस्वरूप हूँ।’

रमण महर्षि स्वानुभव के आधार पर कहते हैं कि अहंकार—रहित स्वप्रकाशरूप चैतन्य ही महातप है और उसकी प्राप्ति के लिए वह तप करना चाहिए, जिससे अहंकार नष्ट हो जाए और आत्मस्वरूप प्रकट हो।

महान् दार्शनिक अरविन्द ने पूर्ण मानव पर, मानव के साथ प्रकृति पर और मानव—जगत् तथा ईश्वर में समान रूप से अभिव्यक्त आत्मा पर गहरा विश्लेषण किया। अरविन्द ने सर्वप्रथम आत्मा के साक्षात्कार के लिए योग—ध्यान अपरिहार्य माना।

योगीराज अरविन्द के अनुसार ध्यान—साधना की प्रथम सीढ़ी है— अचंचल मन। यदि मन चंचल है, तो नींव डालना कदापि सम्भव नहीं। दूसरी सीढ़ी है— निश्चल नीरवता। मन को अचंचल करते—करते शान्त स्थिति आ जाती है। विचार उसके भीतर से उसी तरह से गुजर जाते हैं, जैसे कोई व्यक्ति नदी के तट पर खड़े होकर केवल नदी के प्रवाह को देखता है। उसमें लहरें उठती हैं, फिर विलीन हो जाती हैं।

श्री अरविन्द तीन प्रकार के ध्यान की चर्चा करते हैं। प्रथम— ‘मेडिटेशन’, यह मानव—मन के लिए सबसे अधिक सुगम है, इसके परिणाम भी सीमित हैं। दूसरे प्रकार का ध्यान ‘कण्टेम्प्लेशन’ (Contemplation) अधिक कठिन है, पर पहले से अधिक शक्तिशाली है। तीसरा ध्यान— ‘आत्म—निरीक्षण की पद्धति’ तथा ‘विचार—शृंखला से मुक्ति’— ये दोनों सबसे अधिक कठिन हैं, परिणाम की दृष्टि से विशाल और महान् हैं। अरविन्द

सर्वोत्तम ध्यान उसे कहते हैं, जो सहज—स्वाभाविक रूप से हो। योगीराज अरविन्द के अनुसार ध्यान का सबसे उत्तम विषय है—‘ब्रह्म’। ब्रह्म की भावना उच्चतम है। सर्वप्रथम मन को दोनों भौहों के बीच एकाग्र करना, यह स्थान अन्तर्मन, संकल्प का केन्द्र है। दूसरी पद्धति है—मस्तक में, मनोमय केन्द्र में अपनी सारी चेतना को ले जाकर एकाग्र करना। तीसरी पद्धति है—हृदय—केन्द्र पर ध्यान करना। हृदयचक्र पर एकाग्रतापूर्ण ध्यान करने से हृदय चैत्य—पुरुष के लिए खुलता है।

योगी अरविन्द के अनुसार निर्विकल्प समाधि का ठीक—ठीक अर्थ है— पूर्ण समाधि, जिसमें कोई विचार नहीं होता, चेतना की कोई गति नहीं होती, अथवा न ही भीतरी वस्तुओं का कोई ज्ञान रहता है, सब कुछ खींच कर विश्वातीत परात्पर में चला जाता है। इसका अर्थ है— मन से परे चेतना में समाधि।

भगवान् से सम्पर्क प्राप्त करने के लिए समाधि में रहना आवश्यक नहीं है। आवश्यकता है, अधिकाधिक सचेतन बनाने की।

आचार्य योगीन्दुदेव ने योगसार में कहा है— जो आत्मा के शुद्ध स्वरूप को जानता है, वह पर के ऊपर रही हुई ममत्व—बुद्धि का त्याग करता है; वह पंडित आत्मा या अन्तरात्मा है। आत्मा—अनात्मा का विवेक ही प्रमुख तत्त्व है।

बहुत पुरानी कहावत है— ‘दिया तले अंधेरा।’ जगत् के लिए यह कहावत चाहे कितनी ही प्राचीन हो, परन्तु अर्वाचीन मानव के लिए वह आज भी उतनी ही सत्य है, उसके अंतर्जगत् की साक्ष्य है। मानव पहुँचा है— चाँद—तारों पर, ग्रहों—उपग्रहों तक, पर नहीं पहुँच पाया, अपने अंतरतम स्वरूप तक। जान लिया सब कुछ— पौधे, पेड़, पर्वत, समुंदर, हवाईजहाज, शरीर के अंग—प्रत्यंग, देश—विदेश, पर अनजान रह गया अपने—आप से।



ध्यान आध्यात्मिकता का परम शिखर है। ध्यान, साधना का प्रथम चरण व अंतिम सोपान भी है। शुरुआत होती है, बाहर की आँखें बन्द करने पर और अन्ततः उघड़ते हैं— नयन, जिन्हें हम प्रज्ञाचक्षु कहते हैं।

जीवन की किन सीमाओं में जी रहे हैं हम? जीवन को किस अभिनिवेश में देख रहे हैं हम? शायद हमें पता नहीं। पता भी हो, तो असहाय हैं। उस संकीर्णता से मुक्ति की ओर जाने के लिए जरूरी है कि उस असीम से कोई हमें बुलाए, उस अनन्त से कोई हमें पुकारे, उस अज्ञात से हमें कोई संकेत मिले। ऐसे ही एक बुलावे और पुकार को सुनकर अन्तस्थ सत्य की ओर गमन है— ध्यान, बर्हिगमन है— संसार, अन्तर्गमन है— मोक्षद्वार।

जैनाचार्यों ने ध्यान को 'चित्तनिरोध' कहा है। चित्त का निरोध हो जाना ही ध्यान है। दूसरे शब्दों में, यह मन की चंचलता कम करने का अभ्यास है। गीता में मन की चंचलता के निरोध को वायु को रोकने के समान अति कठिन माना गया है। उसमें उसके निरोध के दो उपाय बताए गए हैं— १. अभ्यास २. वैराग्य। ध्यान में सर्वप्रथम मन को वासनारूपी विकल्पों से मोड़कर धर्म—चिन्तन में लगाया जाता है, फिर क्रमशः इस चिन्तन की प्रक्रिया को शिथिल बनाया जाता है। अन्त में, एक ऐसी स्थिति आ जाती है, जब मन पूर्णतः निष्क्रिय हो जाता है, उसकी भागदौड़ समाप्त हो जाती है। ऐसा मन, मन न रहकर 'अमन' हो जाता है। मन को 'अमन' बना देना ही ध्यान है। जिस प्रकार बांध पानी को एकत्रित कर उसे सबल और सुनियोजित करता है, उसी प्रकार ध्यान द्वारा सुनियोजित चेतनशक्ति का सम्यक् उपयोग सम्भव है।

मनुष्य के लिए, जो कुछ भी श्रेष्ठतम और कल्याणकारी

है, वह स्वयं अपने को जानना और अपने में जीना है। आत्मबोध से महत्वपूर्ण एवं श्रेष्ठतम अन्य कोई बोध है ही नहीं। आत्म—साक्षात्कार या आत्मज्ञान ही साधना का सारतत्त्व है। साधना का अर्थ है— अपने—आप के प्रति जागना। वह कोऽहं से सोऽहं तक की यात्रा है। साधना की इस यात्रा में अपने—आप के प्रति जागना होता है, ध्यान के द्वारा। ध्यान मे आत्मा, आत्मा के द्वारा आत्मा को जानता है। यह अपने—आप के सम्मुख होता है। ध्यान में ज्ञाता अपनी ही वृत्तियों, भावनाओं, आवेगों और वासनाओं को ज्ञेय बनाकर वस्तुतः अपना ही दर्शन करता है। यद्यपि यह दर्शन तभी संभव होता है, जब हम इनका अतिक्रमण कर जाते हैं, अर्थात् इनके प्रति कर्त्ताभाव से मुक्त होकर साक्षी—भाव जगाते हैं। अतः, ध्यान आत्मा के दर्शन की कला है। ध्यान ही वह विधि है, जिसके द्वारा हम सीधे अपने ही सम्मुख होते हैं। इसे ही आत्म—साक्षात्कार कहते हैं। ध्यान, जीव में आत्मा से परमात्मा का दर्शन कराता है।

ध्यान में शरीर को स्थिर रखकर आंखें बन्द करना होती हैं। जैसे ही आंखें बंद होती हैं, व्यक्ति का सम्बन्ध बाह्य—जगत् से टूटकर अन्तर्जगत् से जुड़ता है। जब व्यक्ति संकल्प—विकल्पों का द्रष्टा बनता है, उसे एक ओर इनकी पर—निमित्तता का बोध होता है तथा दूसरी ओर अपने साक्षी—स्वरूप का बोध होता है। मन की भाग—दौड़ समाप्त हो जाती है।

जैनधर्म में ध्यान को मुक्ति का अन्यतम कारण माना जा सकता है। जैन—दार्शनिकों ने आध्यात्मिक—विकास के जिन १४ गुणस्थानों (सीढ़ियों) का उल्लेख किया है, उनमें अन्तिम गुणस्थान अयोगी—केवली का है। अयोगी—केवली गुणस्थान की वह अवस्था है, जिसमें वीतराग—आत्मा अपने काययोग, वचनयोग, मनोयोग का अवलंबन लेकर मुक्ति प्राप्त कर लेती है। यह

प्रक्रिया सम्भव है, शुक्लध्यान के चतुर्थ चरण व्युपरत क्रिया—निवृत्ति के द्वारा, अतः ध्यान मोक्ष का अन्यतम कारण है।

ज्ञानार्णव—शास्त्र में कहा गया है— मेरी आत्मा परमात्मा, परमात्म ज्योतिस्वरूप है। जगत् में श्रेष्ठ है, महान् है, तो भी मैं वर्तमान देखने मात्र रमणीक और अंत में नीरस— ऐसे इन्द्रियों के विषयों से ठगाया गया हूँ।

जैन—परम्परा में ध्यान आन्तरिक—तप का एक प्रकार है। इस आन्तरिक—तप को आत्म—विशुद्धि का कारण माना गया है। योगदर्शन में ध्यान को समाधि का पूर्व चरण माना गया है। ध्यान जब अपनी पूर्णता पर पहुंचता है, तब वही समाधि बन जाता है। ध्यान की इस निर्विकल्प दशा को न केवल जैन—दर्शन में, अपितु संपूर्ण श्रमण—परम्परा में और न केवल सम्पूर्ण श्रमण—परम्परा में, अपितु सभी धर्मों की साधना—विधियों में मुक्ति का अंतिम उपाय माना गया है।

त्यागी चाहे चित्तवृत्तियों के निरोध—रूप में निर्विकल्प समाधि हो, या आत्मा को परमात्मा से जोड़ने की कला हो, वह ध्यान ही है। ध्यान वस्तुतः चित्त की वह निष्प्रकम्प अवस्था है, जिसमें आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप की साक्षी होती है।

चित्त की चंचलता अथवा मन की भागदौड़ को समाप्त करना ही जैन—साधना और योग—साधना— दोनों का लक्ष्य है। ध्यान और योग पर्यायवाची शब्द बन जाते हैं। वस्तुतः, जब चित्त—वृत्तियों की चंचलता समाप्त हो जाती है, चित्त निष्प्रकम्प हो जाता है, तो वही ध्यान होता है और वही समाधि होती है और योग उसे ही कहा जाता है, परन्तु जब कार्य—कारण भाव से विचार करते हैं, तो ध्यान साधन (कारण) होता है और समाधि साध्य (कार्य) होती है।

●

## ध्यान—पद्धति का विलोप

भगवान् महावीर के समय में हजारों—हजार मुनि एकांतवास में, पहाड़ों में, गुफाओं में, शून्यगृहों में, उद्यानों में, ध्यान में लीन रहते थे। उसके बाद भी दूसरी शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक यह स्थिति चलती रही। उसके उत्तरार्द्ध में कुछ परिवर्तन आया। उस परिवर्तन के निम्न कुछ कारण बने—

१. प्राकृतिक—प्रकोप
२. राजनीतिक उथल—पुथल
३. संघ—सुरक्षा व लोकसंग्रह का आकर्षण।

वीर—निर्वाण के दो सौ वर्ष बाद द्वादशवर्षीय भयंकर अकाल पड़ा। उस समय मगध आदि जनपदों में जटिल स्थिति बनी। आज यातायात के प्रचुर साधन हैं, फिर भी अकाल का या भूकंप का सामना करना कठिन होता है। इसका उदाहरण कच्छ और गुजरात का भूकंप है, जो कुछ समय पूर्व आया था।

दूसरा कारण राजनीतिक उथल—पुथल रहा है। नदवंश और मौर्यवंशी सम्राट चन्द्रगुप्त के शासनकाल में पाटलिपुत्र तथा मगध में जैन—संघ के लिए जो अनुकूलता थी, वह बाद में नहीं रही।

तीसरा कारण बना— संघ—रक्षा का प्रश्न। दुष्काल में ज्ञानी मुनियों का स्वर्गवास संघ के लिए बहुत बड़ी चुनौती बना। श्रुत का विच्छेद न हो, इस कारण स्वाध्याय को अधिक महत्व मिला और ध्यान को दूसरा स्थान मिला। इन तीनों कारणों का दीर्घ—कालीन परिणाम यह हुआ कि जैन—संघ, जो ध्यान—प्रधान था, वह स्वाध्याय—प्रधान बना। वीर—निर्वाण की चौथी—पांचवीं शताब्दी में महर्षि गौतम का न्याय—दर्शन और महर्षि कणाद का

वैशेषिक—दर्शन स्थापित हुआ। एक ओर, भद्रबाहु के साथ जाने वाले हजारों—हजार मुनि पूर्वी समुद्र के तट पर फैल गए। उन्होंने तमिलनाडु, केरल और आन्ध्रप्रदेश में जैन—धर्म का प्रसार प्रारंभ किया। मध्यकालीन घटनाओं से पता चलता है कि ध्यान का स्थान शास्त्रीय—ज्ञान, विद्या और मंत्रों ने लिया। शक्ति और चमत्कारों का प्रभाव पड़ने लगा। पादलिप्तसूरि का एक प्रसंग है— मथुरा का राजा मुरंद था। उसके सिर में भयंकर दर्द हो गया। वह दर्द औषधियों से शान्त नहीं हो रहा था। राजा ने कहा—“महाराज! आप ज्ञानी हैं, विद्याधर हैं। मेरे सिर में असह्य दर्द हो रहा है। कृपा कर उसे शान्त कर दें।” पादलिप्तसूरि ने अपनी तर्जनी अंगुली से तीन बार अपने घुटने को थपथपाया। इधर घुटने पर तर्जनी अंगुली चली और उधर राजा का सिरदर्द दूर हो गया। इस प्रकार चमत्कारों का महत्व बढ़ा।



## तनाव

मनुष्य के पास दो शक्तियाँ हैं— ज्ञान की शक्ति और क्रिया की शक्ति। कुछ लोगों ने ज्ञान पर अधिक भार दिया और क्रिया को नकार दिया। कुछ लोगों ने क्रिया पर अधिक भार दिया और ज्ञान को नकार दिया। दोनों ही एकांगी दृष्टिकोण हैं। ज्ञान और क्रिया— दोनों मिलते हैं, तभी कोई पूरी बात बनती है।

आज तनाव की समस्या जटिल हो गई है। शारीरिक—श्रम कम और मानसिक—प्रवृत्ति अधिक हो गई है, जो भावनात्मक प्रवृत्ति है। भावनाओं का प्रहार भयंकर होता है, क्योंकि इसमें आदमी पर सीधा प्रहार होता है, इसलिए सम्यक् भाषा का विवेक जरूरी है। यह तनाव मिटाने का योग्य तरीका है।

**सीसं जहा सरीरस्स, जहा मूलं दुमस्स य।  
सव्वस्स साधु धम्मस्सं, तहा ज्ञाणं विधीयते॥**

जैसे मनुष्य के शरीर में उसका सिर महत्वपूर्ण है तथा वृक्ष में जड़ मुख्य है, वैसे ही साधु के समस्त धर्मों का मूल ध्यान है।

ध्यान की साधना के उपरांत मन केवल आत्मा या परमात्मा का ही निरन्तर चिन्तन—मनन करता है। इस स्थिति में पहुँचकर साधक अन्नमय कोश, प्राणमय कोश और मनोमय कोश से ऊपर उठकर विज्ञानमय कोश में पहुँचने की साधना करता है। जब ध्यानावस्था में ऐसी स्थिति आ जाए कि साधक के समक्ष केवल ध्येय ही ध्येय रह जाए, चित्त का स्वरूप जब शून्य के समान हो जाए, तब समाधि समझना चाहिए। इस स्थिति में शरीर का तो क्या, अपने पृथक् अस्तित्व का भी भान नहीं रहता। यहाँ अहम् का विलोप होकर, 'तत् त्वमसि', केवल तू ही तू रह जाता है। यहाँ साध्य और साधक का द्वैतभाव मिट

जाता है। बूंद भी अपने—आपको सागर का एक अंश ही नहीं, बल्कि सागर ही अनुभव करती है। 'बिन्दु में सिन्धु समाना'— यह अवस्था समाधि की ही देन है। इस स्थिति में पहुँचकर साधक आनन्दमय कोश में पहुँच जाता है और तब उसे सिवाय आनन्द के और किसी चीज की अनुभूति नहीं होती। आनन्द घन का यह साक्षात्कार है। समाधि की उपमा चैतन्य सुषुप्ति से दी जा सकती है। जिस प्रकार खूब गहरी नींद से सोकर उठने के उपरान्त मनुष्य को आनन्द की अनुभूति होती है, चित्त प्रसन्न होता है, शरीर हल्का होता है, थकावट दूर होती है, बहुत कुछ वैसा ही अनुभव समाधि से उठने के पश्चात् साधक को होता है, लेकिन यह स्थिति केवल सतत अभ्यास एवं वैराग्य से ही प्राप्त हो सकती है। 'नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यः न मेघ या न बहुना श्रुतेन'— यह न तो प्रवचन से प्राप्त होती है, न मेघ के द्वारा और न पढ़ने—लिखने से। इस स्थिति में चेतना, सत्य तथा अनिर्वचनीय आनन्द की अनुभूति मात्र होती है। वहाँ शान्ति की अनुभूति होती है, जो मेघा से परे होती है। मन उस अवस्था का वर्णन करने के लिए शब्दों को ढूँढने में समर्थ नहीं होता है और जिह्वा उन्हें उच्चारित करने में असमर्थ होती है। अन्य अनुभवों से समाधि के अनुभव की तुलना करते हुए संत कहते हैं— 'नेति! नेति!!' यह अवस्था एकमात्र गहन शान्ति द्वारा प्रकट की जा सकती है। साधक पार्थिव—जगत् से चला जाता है और निद्रा में विलीन हो जाता है। उसके हृदय से एक व्यक्त आत्मसंगीत प्रवाहित होता है।

जैनाचार्यों ने ध्यान को चित्त—निरोध कहा है। किसी एक विषय में एकाग्रता ध्यान है। एकाग्रता अशुभ विचार में भी हो सकती है एवं शुभ में भी। इसी अपेक्षा से ध्यान चार प्रकार का बताया गया है— १. आर्त्तध्यान २. रौद्रध्यान ३. धर्मध्यान ४.

शुक्लध्यान। आर्त्त एवं रौद्रध्यान दुर्ध्यान, प्रशस्त और अशुभ ध्यान हैं। इन दोनों से कर्म—निर्जरा नहीं, अपितु कर्मबन्धन होता है।

मोह का क्षय मोक्ष है। मोक्ष के मुक्ति, निर्वाण, परिनिर्वाण आदि पर्यायवाची हैं। मुक्ति शब्द 'मुञ्च' धातु से बना है। दोषों से विमुक्ति ही वास्तविक विमुक्ति है। असावधान साधक यदि शरीर और इन्द्रियजनित सुखों की अभिलाषा से प्रेरित होकर शिष्य बनता है, दीक्षित होने के बाद पश्चाताप करता है कि उसने ऐसे कष्टों को क्यों अपनाया? तो वह दुःखों को ही आमन्त्रित करता है।

नासाम्बरत्वे, न सिताम्बरत्वे, न तर्कवादे न च तत्त्ववादे।

न पक्षज्ञसेवाश्रयेण मुक्ति, कषायमुक्तिः किल मुक्तिरेव।

न दिगंबरत्व से, न श्वेताम्बरत्व से, न तर्कवाद से, न तत्त्ववाद से और न किसी एक पक्ष की सेवा से मुक्ति होती है। वस्तुतः, कषाय—मुक्ति ही मुक्ति है।

कषाय बीज है, कर्म का। कर्म हेतु है, संसार—भ्रमण का। उत्तराध्ययन में कषाय को अग्नि कहा गया है। कषायाग्नि से दहकती आत्मा अशान्त होती है।

सुख और दुःख— दोनों अपनी—अपनी दृष्टि आधारित हैं। संसार में जितने जीव हैं, सभी को दुःख नहीं होता। कुछ जीव तो मस्ती में जीते हैं। उन्हें तो यह भी पता नहीं कि इस जगत् के सिवाय कोई अन्य जगत् भी है। बेचारे ऐसा ही जीवन जी लेते हैं, पर उन्हें उसकी खिन्नता नहीं होती।



# मन की अवस्थाएँ

**जैन—दर्शन में मन की चार अवस्थाएँ आचार्य हेमचन्द्र ने बताई हैं—**

१. विक्षिप्त मन— यह मन की अस्थिर अवस्था है, इसमें मन चंचल होता है।
२. यातायात मन— यातायात मन कभी बाह्य—विषयों की ओर जाता है, तो कभी अपने में स्थित होने का प्रयत्न करता है। यह योगाभ्यास के प्रारंभ की अवस्था है।
३. क्लिष्ट मन— यह मन की स्थिरता की अवस्था है।
४. सुलीन मन— जिसमें संकल्प—विकल्प एवं मानसिक—वृत्तियों का लय हो जाता है। यह परमानन्द की अवस्था है।

**बौद्ध—दर्शन में चित्त की चार अवस्थाएँ—**

१. कामावचर चित्त— कामना, वासना प्रबल।
२. रूपावचर चित्त— एकाग्रता का प्रयत्न, पर तर्क—वितर्क होते हैं।
३. अरूपावचर चित्त— इस प्रकार चित्त की वृत्तियों में स्थिरता होती है, लेकिन उसकी एकाग्रता निर्विषय नहीं होती।
४. लोकोत्तर चित्त— इसमें चित्त विकारशून्य हो जाता है। इस अवस्था को प्राप्ति कर लेने पर निश्चित रूप से अर्हन्त पद एवं निर्वाण की प्राप्ति हो जाती है।

**योगदर्शन में चित्त की पाचं अवस्थाएँ—**

१. क्षिप्त मन— स्थिरता नहीं। मन, इन्द्रियों पर संयम नहीं।

२. मूढ़ चित्त— इस अवस्था में तम की प्रधानता रहती है और इसमें निद्रा, आलस्य का प्रादुर्भाव होता है।
३. विक्षिप्त मन— मन थोड़ी देर के लिए एक विषय पर लग जाता है, परन्तु तुरन्त ही अन्य विषय की ओर दौड़ जाता है।
४. एकाग्र चित्त— यह वह अवस्था है, जहां चित्त देर तक एक विषय पर लगा रहता है। यह किसी वस्तु पर मानसिक केन्द्र या ध्यान की अवस्था है।
५. निरुद्ध चित्त— इस अवस्था में चित्त की सभी वृत्तियों का लोप हो जाता है और चित्त अपनी स्वाभाविक स्थिर, शांत अवस्था में आ जाता है।

जैन, बौद्ध और योग—दर्शन में मन की इन विभिन्न अवस्थाओं के नामों में चाहे अन्तर हों, लेकिन उनके मूलभूत दृष्टिकोण में कोई अन्तर नहीं है, जैसा कि निम्न तालिका से स्पष्ट है—

<b>जैन—दर्शन</b>	विक्षिप्त	यातायात	क्लिष्ट	सुलीन
<b>बौद्ध—दर्शन</b>	कामावचार	रूपावचार	अरूपावचार	लोकोत्तर
<b>योग—दर्शन</b>	क्षिप्त	विक्षिप्त	एकाग्र	निरुद्ध

जैन—दर्शन का विक्षिप्त मन, बौद्धदर्शन का कामावचार चित्त और योगदर्शन के क्षिप्त एवं मूढ़ चित्त समानार्थक हैं। चित्त की अन्तिम अवस्था को जैनदर्शन में सुलीन मन, बौद्धदर्शन में लोकोत्तर चित्त और योगदर्शन में निरुद्ध चित्त कहा गया है।

ध्यान के सन्दर्भ में यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से उठता है कि ध्यान किसका किया जाए? दूसरे शब्दों में, ध्येय का आलम्बन क्या है? सर्वप्रथम यह जानें कि हमारे ध्यान का प्रयोजन क्या है? जो व्यक्ति अपनी वासनाओं का पोषण चाहता

है, वही स्त्री शरीर के या सुन्दर वस्तु के सौंदर्य को अपने ध्यान का आलम्बन बनाता है और उसके माध्यम से आर्त्तध्यान का भागीदार बनता है, किन्तु जो भोग के स्थान पर त्याग और वैराग्य को अपने जीवन का लक्ष्य बनाना चाहता है, जो समाधि का इच्छुक है, वह स्त्री—शरीर की विद्रुपता और नश्वरता का विचार करेगा, अतः ध्यान के प्रयोजन के आधार पर ध्येय का निर्धारण करना होता है। पुनः, ध्यान की प्रशस्तता और अप्रशस्तता भी उसके ध्येय या आलम्बन पर आधारित होती है, अतः प्रशस्तध्यान के साधक अप्रशस्त विषयों को अपने ध्येय का आलम्बन या ध्येय नहीं बनाते हैं।

जैन—दार्शनिकों की दृष्टि में प्राथमिक स्तर पर ध्यान के लिए किसी ध्येय या आलम्बन पर ही चित्त की वृत्तियों को केन्द्रित करना सम्भव नहीं होता है। प्रशस्त आलम्बन ही व्यक्ति को प्रशस्तध्यान की दिशा की ओर ले जाता है। ध्यान के आलम्बन के प्रशस्त विषयों में परमात्मा या ईश्वर का स्थान सर्वोपरि माना गया है। जैन—दार्शनिकों ने भी ध्यान के आलम्बन के रूप में वीतराग परमात्मा को ध्येय के रूप में स्वीकार किया है। चाहे ध्यान पदस्थ हो या पिण्डस्थ, रूपस्थ हो या रूपातित, ध्येय तो परमात्मा ही है, किन्तु हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि जैनधर्म में आत्मा और परमात्मा भिन्न नहीं हैं। आत्मा की शुद्ध दशा ही परमात्मा है, इसलिए जैन—दर्शन में ध्याता और ध्येय अभिन्न हैं। साधक आत्मा ध्यानसाधना में अपने ही शुद्ध स्वरूप को ध्येय बनाती है। आत्मा, आत्मा के द्वारा आत्मा का ही ध्यान करती है। ध्यान में चित्त ही ध्येय का आकार ग्रहण करके हमारे सामने उपस्थित होता है। ध्यान वह कला है, जिसमें ध्याता अपने ही को ध्येय बनाकर स्वयं उसका साक्षी बनता है। हमारी वृत्तियाँ ही हमारे ध्यान का आलम्बन होती हैं और उनके माध्यम से हम

अपना ही दर्शन करते हैं, परन्तु अप्रशस्त ध्यानों की पात्रता सहज रूप से सभी प्राणी में होती है। नारकी, तिर्यच, मनुष्य, देव आदि सभी में आर्तध्यान और रौद्रध्यान पाए जाते हैं, किन्तु जब ध्यान का विषय प्रशस्त हो, तो उसके लिए हमें प्रयत्न करने पड़ते हैं। धर्मध्यान और शुक्लध्यान के अधिकारी सभी प्राणी नहीं होते। उमास्वाति ने तत्त्वार्थसूत्र में, किस ध्यान का कौन अधिकारी है— इसका उल्लेख किया है। साधारणतया चतुर्थ गुणस्थान, अर्थात् सम्यक्—दर्शन की प्राप्ति के पश्चात् ही व्यक्ति धर्मध्यान का अधिकारी बनता है। जिस व्यक्ति को हेय, ज्ञेय और उपादेय का भेद समझ में आता है, वही धर्मध्यान कर सकता है, वरना वह चित्त को केन्द्रित नहीं कर सकता। धर्मध्यान की साधना के लिए व्यक्ति में ज्ञान के साथ—साथ वैराग्य भी आवश्यक माना गया है।

शुक्लध्यान— यह आठवें गुणस्थान से लेकर चौदहवें अयोगी—केवली—गुणस्थान तक के जीवों में सम्भव है। इस प्रकार ध्यानसाधना के अधिकारी व्यक्ति भिन्न—भिन्न ध्यानों की अपेक्षा से भिन्न—भिन्न कहे गए हैं। जो व्यक्ति आध्यात्मिक—दृष्टि से जितना विकसित होता है, वह ध्यान के क्षेत्र में उतना ही आगे बढ़ सकता है।

यहाँ प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या गृहस्थ—जीवन में ध्यान संभव ही नहीं है। ज्ञानार्णव में प्रतिपादित है कि गृहस्थ प्रमाद में फँसा रहता है, इस कारण वह ध्यान का अधिकारी नहीं है। यह सत्य है कि जो व्यक्ति गृहस्थ—जीवन के प्रपंचों में उलझा हुआ है, उसके लिए ध्यान संभव नहीं है, किन्तु गृहस्थ—जीवन और गृही—वेश में रहनेवाले सभी व्यक्ति आसक्त ही होते हैं, यह नहीं कहा जा सकता, अतः व्यक्ति में मुनिवेश धारण करने से ही ध्यान की पात्रता नहीं आती है। प्रश्न यह

नहीं है कि ध्यान गृहस्थ को संभव होगा या साधु को? वस्तुतः, निर्लिप्त जीवन जीने वाला व्यक्ति, चाहे वह साधु हो या गृहस्थ, उसके लिए धर्मध्यान संभव है। ध्यान का संबंध चित्तशुद्धि से है। चित्त जितना शुद्ध होगा, ध्यान उतना ही स्थिर होगा।

यद्यपि प्राचीन जैन—आगमों में ध्यान का चतुर्विध वर्गीकरण ही मान्य रहा है, किन्तु जब ध्यान का सम्बन्ध मुक्ति की साधना से जोड़ा गया, तो आर्त और रौद्र—ध्यान को बन्धन का कारण होने से ध्यान की कोटि में परिगणित नहीं किया गया, अतः दिगम्बर—परम्परा की धवला टीका में तथा श्वेताम्बर—परम्परा के हेमचन्द्र के योगशास्त्र में ध्यान के दो ही प्रकार माने गए हैं— धर्म और शुक्ल। ध्यान के भेद—प्रभेदों की चर्चा से स्पष्ट रूप से यह ज्ञात होता है कि उसमें क्रमशः विकास होता गया है। प्राचीन आगमों स्थानांग, समवायांग, भगवतीसूत्र, ध्यानशतक और तत्त्वार्थसूत्र में ध्यान के चार भेदों की चर्चा की गई है, परन्तु उनमें कहीं भी ध्यान के पिंडस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत— इन चार प्रकारों की चर्चा नहीं है।

# आत्मा

जैन—दर्शन की साधना का आधार, केन्द्रबिन्दु है— आत्मा। आत्मतत्त्व की अनुभूति, आत्मज्ञान व आत्मलीनता— यही इस साधना का मूलभूत लक्ष्य रहा है। स्वस्थिरता का नाम है— ध्यान। किसी भी एक वस्तु, विचार पर चित्त की स्थिरता का नाम है— ध्यान।

यहाँ पर केवल चित्त का एकाग्र हो जाना ही अभीष्ट नहीं है, क्योंकि एकाग्रता प्रशस्त विषय पर भी हो सकती है एवं अप्रशस्त विषय पर भी। प्रशस्त विषयगत एकाग्रता धर्मध्यान कहलाती है। ध्यान चार प्रकार के होते हैं— आर्त्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल।

आज का युग बदला हुआ है, फिर भी ईश्वर की प्राप्ति के साधन वही हैं, इसमें कोई शक नहीं। पहिले भी हम पानी से ही अपनी प्यास बुझाते थे। आज भी हम पानी से ही अपनी प्यास बुझाते हैं। शरीर की प्यास बुझाने के लिए आदमी हर जगह दौड़ता है कि किसी जगह उसे पानी मिल जाए। वह तलाश करता है किसी कुँ के लिए या फिर किसी नदी के लिए। आखिर, उद्देश्य तो प्यास बुझाने का ही होता है, परन्तु आत्मा की प्यास न लगने के कारण इस तलाश में बड़ी देर लगती है।

एक बार एक अमीर सेठ के घर आग लगी। सेठ भागते—भागते बाहर आया और चिल्लाने लगा— “अरे, कोई बचाओ!” एक नौकर आया और पूछने लगा आपके घर में से ऐसी कौनसी वस्तु सबसे पहले बाहर लाऊँ, जो मूल्यवान् हो? सेठ बोला— “जा मेरी तिजोरी में रखे हीरे लेकर आ।” सेठ के आदेश के अनुसार नौकर घर में घुसकर, आग से बचते—बचाते हीरे लेकर बाहर आता है। उसे देखकर सेठ जरा खुश होता है।

नौकर फिर से पूछता है— ‘मालिक! और क्या लेकर आऊँ?’ मालिक कहता है— ‘मेरा अति महँगा गलीचा लेकर आ।’ नौकर दौड़कर जाता है और गलीचा लेकर घर के बाहर आता है। फिर नौकर को याद आता है कि उसे कहीं पर भी छोटे मालिक दिखाई नहीं दिए हैं। सेठ को जब वह यह बात बताता है, तो सेठ के होश उड़ जाते हैं। वे सिर पर हाथ रखकर नीचे बैठ जाते हैं, हाय! हाय! करते हैं और पछताते हैं कि सबसे मूल्यवान् वस्तु तो वे अंदर ही भूल गए। क्या हम भी उसी प्रकार अज्ञानी नहीं हैं?

जिस प्रकार ‘पानी’ कहने से प्यास बुझती नहीं, उसी प्रकार गंगा नदी नक्षे में देखने से गंगा में नहाने का लाभ नहीं मिलता है। सिर्फ ‘शुद्धोऽहं’ कहने मात्र से आत्मा का दर्शन नहीं होता है।

हलवाई की दुकान पर एक आदमी पहुँचकर कागज पर ‘१००रु.’ लिखकर हलवाई को देता है। वह पढ़कर दुकानदार भी एक कागज के टुकड़े पर ‘१ किलो बर्फी’ लिखकर दे देता है। क्या कोई व्यापार हुआ? कोई संबंध स्थापित हुआ? नहीं। उसी प्रकार, जब तक आत्मा का दर्शन नहीं होता, तब तक सिर्फ विवेचन, वाद—विवाद करना बेकार है।

**बैठा पंडित पढ़े पुराण । बिन देखे का करे बखान।**

**तू कहे कागज की लेखी । मैं कहूँ आँखन की देखी।**

जिसने आत्मा को देखा है, वही सच्चे अर्थों में उसका बखान कर सकता है। संत तुकाराम, मीराबाई, गौतम बुद्ध, महावीर, समर्थ रामदास— इन सभी ने आत्मा का अनुभव करके सहर्षित होकर उसका वर्णन किया है, फिर भी हम जाग्रत नहीं हुए। अनेक बार महावीर भगवान् के समवशरण में जाकर हम खाली हाथ वापस आए। बल्ब तो मौजूद है, इलेक्ट्रिक—पावर

हाऊस भी है, सिर्फ कनेक्शन करना शेष है। बस, ब्रह्म की प्राप्ति भ्रम की समाप्ति है। भगवद्गीता में कहाँ है कि जो इस शरीर में रहता है, उसको न आप मार सकते हो, न चीर सकते हो, वह अमर है।

मेरा शरीर और मेरी आत्मा— दोनों भिन्न हैं। यह जानना ही प्रथम सीढ़ी है। आत्मा इस शरीर में कैद है, सिर्फ कुछ समय के लिए। महासागर के पानी की एक बूंद उतनी ही महान् है, जितना की महासागर, क्योंकि दोनों में एकसमान गुण हैं।

हमारा यह शरीर पंचमहाभूतों से बना हुआ है। मरने की बात सभी करते हैं, पर वह कला हर कोई नहीं जानता ।

**मरना मरना सब कोई कहे। मरनो न जाने कोय।**

कबीरदास यही कहते हैं। आदि शंकराचार्य कहते हैं कि भोजन बनाने का प्रत्यक्ष कारण अग्नि है, उसी प्रकार ज्ञान (आत्मा का)— यह मुक्ति का कारण है।

जब भी कोई साधक ईश्वर—प्राप्ति के लिए निकलता है, तब वह मूर्ति—पूजा से प्रारंभ करता है, परंतु आगे चलते—चलते उसके ध्यान में आता है कि मूर्ति ईश्वर नहीं हो सकती, क्योंकि भगवान् तो अविनाशी, निर्विकारी हैं। मूर्ति का प्रयोजन तो मूर्त से अमूर्त की तरफ जाने के लिए है, पर वास्तविकता में हम देखते हैं कि अधिक—से—अधिक लोग मूर्ति में सीमित रहते हैं। इससे आगे बढ़ने का उन्हें संकल्प नहीं होता है। वे वहीं संतोष मानते रहते हैं।

शंकर भगवान् का एक भक्त, शंकर के पिंड के पास मंदिर में ही सोता था। एक दिन वह मंदिर में सोया हुआ था। वह गहरी नींद में था। उसने शोरगुल सुना, जिसके कारण वह जाग गया। आँखें खोलकर देखता है कि एक चूहा शंकर भगवान् के पिंड के



ऊपर छलांग मार रहा है। भगवान् का प्रसाद भी इधर—उधर उड़ा रहा है। यह देखकर भक्त अचंभित हुआ। उसी क्षण उसकी शंकर भगवान् पर की हुई अटल श्रद्धा, भक्ति समाप्त हो गई। उसे यह समझ में नहीं आया कि जो भगवान् सबकी रक्षा कर सकता है, वह खुद की रक्षा करने में असमर्थ क्यों है? क्या ऐसा भगवान् कभी सर्वश्रेष्ठ और बलवान् हो सकता है? इन सभी प्रश्नों ने उसे मंदिर और मूर्ति से दूर कर दिया। बाद में उसी ने स्वामी दयानंद के रूप में आर्य—समाज की स्थापना की।

परमात्मा मंदिर या मूर्ति में नहीं, तीर्थ में नहीं, वह तो हमारे अंदर है। शंकराचार्य कहते हैं—

**अजं निर्विकल्पं निराकार एकम्।  
परं निर्गुणं निर्विशेषं निरीहम्॥**

अर्थात्, यह ब्रह्म, यह परमेश्वर अजन्मा है, अपरिवर्तनशील है, निराकार है। आज आदमी चाँद पैर रखने का ध्येय करता है, पर स्वयं से अनभिज्ञ है।

आज का यह युग धोखेबाजी, अनैतिकता और असत्य का रूप है। मन में प्रश्न आता है कि इस तरह वातावरण इतना मलीन होने के बाद क्या आत्मज्ञान संभव है? हे मानव! तू उसकी चिंता मत कर। तू सिर्फ अपना पुरुषार्थ कर, फिर आत्मा तेरे करीब और सामने होगी। यह डंके की चोट के साथ लेखिका कहती है— आज अनेक विद्वान्, पंडित समाज में हैं, परंतु वे सिर्फ गाथा याद करने से, तर्क या वाद करने से मोक्षरूपी साध्य प्राप्त नहीं होता।

**नाना शास्त्रे पहेत् लोको । नाना दैवतं पूजनम्।  
आत्मज्ञानविण पार्था । सर्व कर्म निरर्थकम् ॥**

हमें आस्था की जरूरत है, ज्ञान की आवश्यकता है।

वैराग्य का होना भी जरूरी है। मानव ने जिस दिन चाँद पर अपना पहला कदम रखा, वह दिन उसके लिए महत्वपूर्ण, आनंदपूर्ण था। नील आर्मस्ट्रांग उस मानव का नाम था और साल था जून १९६९ का। धन्य था वह मानव, धन्य था वह समय। पर क्या वह इन्सान जमीन पर ठीक से चल सका?

**हैरत है इस जमीं पे, चलना ना आया हमें।**

**जब कि नक्शे कदम, हमारे चाँद पर भी हैं॥**

हमारे भारतवर्ष में अनेक संत सूरज के समान तेजमान् हुए। उनमें से एक नाम चमका, रामकृष्ण परमहंस का। स्वामी विवेकानंद उनके शिष्य थे। स्वामी विवेकानंद का पूर्व नाम है— नरेन्द्र। उन्हें तीन प्रश्न बहुत बेचैन करते रहते थे। उन्होंने मन में निश्चय किया कि जो भी इन तीनों प्रश्नों का उत्तर 'हाँ' में देगा, वही मेरा गुरु होगा। वे काफी जगह भटके। आखिर वे परमहंस के पास पहुँचे और उनसे ये तीन प्रश्न पूछे—

- १) क्या सचमुच भगवान् है? वह कैसा है?
- २) उसे किसी ने देखा है?
- ३) क्या वह भगवान् मुझे भी दिखेगा?

इन तीनों प्रश्नों के उत्तर 'हाँ' में पाकर नरेन्द्र स्वामी विवेकानंद बन गए।

आज का मानव यह सोचता है कि जब मैं बूढ़ा हो जाऊँगा, तब आध्यात्मिक—जगत् में प्रवेश कर लूँगा, पर वह यह नहीं सोचता कि बुढ़ापा एक रोग है। उस वक्त शरीर थका और बीमारी से घिरा हुआ होता है, शरीर में न तो शक्ति होती है, न ही उमंग। साधना के लिए शक्ति जरूरी है। साधन ठीक रहेगा, तो साध्य को प्राप्त करना संभव है।

आज के आधुनिक जगत् में बहुतांश लोगों को आध्यात्मिक—

जगत् में आना भी पसंद नहीं होता। वे तो समझते हैं, हर नया हुनर सीखें, नया घर, नई गाड़ी, बहुत पैसा हासिल करें। वही उनका सपना होता है। दूसरा कोई सुंदर जगत् है, यह वे मानने को तैयार नहीं होते। इस तथ्य में ना ही उनकी कोई आस्था है, ना विश्वास है। इस देह के सुख के लिए वे कुछ भी करने को तैयार हैं, पर इस आत्मा के लिए उनके पास न समय है, न रुचि।

एक राजा था। उसे एक लड़का था— राजकुमार कुणाल। राजा उसे बेहद प्यार करता था। एक बार वह अपने सेनापति के साथ उसे तैरने के लिए भेजता है और सेनापति को हिदायत देता है कि चाहे कुछ भी हो पर तुम राजकुमार के कपड़े और गहने संभाल कर रखना। तैरने के दरम्यान राजकुमार डूबने लगता है। वह जोर-जोर से चिल्लाता है —‘बचाओ, बचाओ!’ सेनापति वह सुनता है, पर अपनी जगह से बिलकुल नहीं हिलता है। उसी वक्त राजा वहीं से गुजरता है। राजा घोड़े पर सवार रहता है। वह राजकुमार को डूबता हुआ देखता है, तो तुरन्त पानी में कूदकर राजकुमार को बचाता है। फिर राजा सेनापति को बहुत डांटता है, पर सेनापति कहता है— “राजन्! मैंने तो आपकी आज्ञा का पालन किया है। मेरा कोई कसूर नहीं है।” राजा कहता है— “मूर्ख! ये गहने और कपड़े किस काम के, जब राजकुमार ही नहीं हो।”

यह दुनिया ऐसे लोगों से भरी हुई है, जो नहीं जानते कि मुख्य क्या है और गौण क्या? जब यह पता ही नहीं, तो निर्णय ठीक कैसे होगा? ‘सत्संग’, यह शब्द ‘सत्’ और ‘संग’— इन दो शब्दों के समन्वय से बना है, जिसका अर्थ है— सत्य का सहवास। अब यह सत्य क्या है? वह सत्य है— निराकार, नित्य, अमर आत्मा। जब तक आत्मा को अपना स्वयं का पता नहीं होता है, वह ८४ गति में घूमती रहती है।

भारत में कवि गालिब का नाम सभी जानते हैं। एक दिन राजा बहादुरशाह ज़फर ने गालिब को अपने राजमहल में खाने पर बुलाया, परंतु कवि के पास कोई अच्छे कपड़े नहीं थे, इस कारण गालिब के दोस्त ने उनसे नए कपड़े किराए पर लाकर उन्हें पहनने की सलाह दी। यह सलाह गालिब को पसंद नहीं आई। वे उन्हीं फटे कपड़ों में राजमहल गए। उनकी यह हालत देखकर द्वारपाल ने उन्हें अंदर जाने नहीं दिया। यह सब कुछ जानकर गालिब घर लौट आए और दोस्त की सलाह उचित समझकर किराए के सुंदर कपड़े पहनकर राजमहल में फिर से पहुँचे। उनका मोहक रूप देखकर द्वारपाल ने उन्हें अंदर जाने दिया। राजा गालिब को देखकर बड़े आनंदविभोर हुए और पूछा— “इतनी देर क्यों हुई?” गालिब ने कोई जबाब नहीं दिया, वह चुपचाप बैठा रहा। थोड़ी देर बाद खाना परोसा गया। दोनों ने खाना शुरू किया, परंतु गालिब खाना मुँह में न डालते हुए अपने नए कपड़ों पर डालते रहे और कहते रहे, “मेरे कपड़ों, यह खाना तुम्हारे लिए है, इसे ग्रहण करो।” राजा यह देखकर हैरान हुआ। उसने पूछा— “गालिब! यह क्या कर रहे हो?” गालिब ने कहा— “हे राजन्, परेशान न हों। इन कपड़ों के कारण ही तो मुझे अंदर आने की इजाजत मिली है, वरना मुझे कौन पूछता? मैं तो ऐसा कर इन कपड़ों का एहसान चुका रहा हूँ।” यह सुनकर राजा बहुत लज्जित हुआ। हम भी असली चीज को नहीं जानते और फिर जीवन में गलत कदम उठाते रहते हैं। असली—नकली की पहचान होना चाहिए।

आद्य शंकराचार्य कहते हैं कि इस मृत्युलोक में तीन बातें बड़ी कठिनाई से मिलती हैं— प्रथमतः, मनुष्य—जन्म मिलना बहुत कठिन है। दूसरी बात यह कि मानव—जन्म मिलने के बाद भी परमेश्वर को पाने की इच्छा होना बड़ी कठिन है। श्रीकृष्ण

भगवान् भगवद्गीता के ७वें अध्याय में कहते हैं—

**मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतनि सिद्धये।  
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः॥**

इसका अर्थ यह है कि लाखों लोगों में से एक आदमी ही सिद्धि के लिए कोशिश करता है और इन सिद्धि प्राप्त हुए लाखों लोगों में से एक व्यक्ति ही तत्त्व रूप से मुझे जानता है।

तीसरी दुर्लभ बात है— किसी संत का मिलना। ये तीनों बातें बड़ी कठिनता से मिलती हैं। जिन्हें ये तीनों बातें मिली हैं, वे सचमुच धन्य हैं। संत रामदास भी यही कहना चाह रहे हैं—  
'देव जवळी अंतरी, भेंट नाही जन्मभरी।'

जब तक 'अहं ब्रह्मास्मि' नहीं जानता, तब तक वह शरीर और आत्मा का भेद नहीं कर सकता। ज्ञान से वह यह भेद जानता है और कहता है—

**मेरे प्रभु का आतम नाम,  
मेरे स्वरूप की हुई पहचान,  
जब से तुमको देखा भगवान्,  
तू मुझमें, मैं तुझमें समान।**

'ध्यान' आध्यात्मिक—साधना का परम शिखर है। प्रारंभ में स्थूल वस्तु का अवलोकन किया जाता है, बाद में सूक्ष्म वस्तु की एकाग्रता की जाती है। जैनाचार्यों ने ध्यान की व्याख्या 'चित्त का निरोध' की है। गीता में कहा गया है कि मन को रोकने का कार्य उतना ही कठिन है, जैसे किसी पवन को रोकना। अभ्यास और वैराग्य से हम यह कार्य कर सकते हैं। ध्यान में मन को धीरे—धीरे निष्क्रिय किया जाता है और फिर मन 'अमन' बन जाता है। एक मानव के लिए आत्मज्ञान ही सर्वश्रेष्ठ है।

मैं कहूँगी —

संसारत तू, उगाच भटकू नको।  
काहीतरी मनामध्ये, उद्देश्य असो।  
नको नको असा, टाईमपास नको।  
आता तरी उठ, आत्मदर्शन साधो॥

यह महान् कार्य करने के लिए कर्त्ताभाव, अहंभाव को हटाना होगा। जिंदगीभर हम इसी गलत खयाल में रहते हैं कि 'मैं हूँ तो दुनिया है।' मेरे बिना ये घर; घर नहीं होता आदि बातें हमारे मन में घर करके बैठी होती हैं। इन्हें पहले हटाना होगा। मैं मेरी दादी के घर, वाढोणा गांव में अक्सर छुट्टियों में जाया करती थी। वहाँ हमारी खेतीबाड़ी है। खेत जाते वक्त हम बच्चे बैलगाड़ी में बैठकर ही जाते थे। दररोज मैं देखती कि एक कुत्ता हमारी बैलगाड़ी के नीचे ही चलता था। जब बैलगाड़ी रुकती, तो वह भी रुक जाता, पर वह ऐसे ढंग से चलता, जैसे बैलगाड़ी को चलानेवाले बैल नहीं, बल्कि वह खुद है। यही हालत हमारी भी है। जब हम इस दुनिया में नहीं रहेंगे, तो घर के और समाज के लोग हमें कुछ दिनों में ही भुला देंगे। फिर भी हम इस घर के लिए पूरी जिंदगी लुटाते हैं। कुछ वक्त खुद के लिए भी निकालना चाहिए।

एक गांव में एक बड़ा कारखाना खुलने वाला था। अखबार में विज्ञापन आता है कि एक मॅनेजर और एक चपरासी की सख्त जरूरत है। मॅनेजर की पोस्ट के लिए काफी लोग आए। सबका इन्टरव्यू होने के बाद एक नौजवान को मॅनेजर की जगह पर रखा गया। बाद में उसी दिन चपरासी का भी इन्टरव्यू रखा गया था। मॅनेजर भी ट्रस्टियों के साथ चपरासी—पद के उम्मीदवार से प्रश्न पूछता रहा। उम्मीदवार ने कहा— "मैं सभी काम कर लूंगा, पानी भरूंगा, सफाई कर लूंगा।" तब मॅनेजर

बोला, ‘ये कार्य तो मैं भी कर सकता हूँ। इसके लिए दूसरे को रखने की और पैसे देने की क्या जरूरत है?’ तब वहाँ बैठे ट्रस्टियों ने मॅनेजर के प्रति तीखा कटाक्ष करते हुए मॅनेजर को घर जाने के लिए सूचित किया। उन्हें तो एक ऐसा मॅनेजर चाहिए था, जो सिर्फ मॅनेजर का कार्य करे, चपरासी का नहीं। हम सभी अनेक कार्य एक साथ करना चाहते हैं, जिससे कोई भी कार्य ठीक से नहीं होता है।

मैं एक दिन घर में बैठे—बैठे T.V. पर ‘श्रीकृष्ण की कहानियाँ’— यह सीरियल देख रही थी। उसमें श्रीकृष्ण और बलराम का संवाद बहुत ही मार्गदर्शक था। श्रीकृष्ण जब वृंदावन छोड़कर मथुरा सदा के लिए जाते हैं, तब उन्हें वृंदावन की गलियाँ, गोप—गोपियाँ, राधा, माता यशोदा आदि सभी की बहुत याद आती है। उन्हें कहे हुए वचन भी याद आते हैं। श्रीकृष्ण आँखों में आंसू भर वियोग पर खेद करते हैं। उसी समय बलराम वहाँ आते हैं। श्रीकृष्ण की आँखों में आंसू देखकर वे कहते हैं, ‘‘भगवन्! आपको यह शोभा नहीं दे रहा है। आप तो स्वयं भगवान् हो, फिर एक बालक के समान क्यों रो रहे हो?’’ तब श्रीकृष्ण वियोग के दुःख का निवेदन करते हैं। बलराम उन्हें समझाते हैं— ‘‘यह ठीक नहीं है। गोप—गोपियाँ, राधा— ये सभी तो अज्ञानी हैं। वे सिर्फ माया, ममता, प्रेम की भाषा ही जानते हैं, पर आप तो इस माया को धूल के समान जानते हैं। आप वृंदावन में जाकर उन्हें समझा दें कि यह माया प्रेम—बंधन है। उन सबको इससे मुक्ति मिलना चाहिए। इस ज्ञान को माया, प्रेम के आगे रखना चाहिए। श्रीकृष्ण, आप तुरंत वहाँ जाकर ज्ञान का मार्ग वृंदावनवासियों को बता दें।’’ तब श्रीकृष्ण आंसू पोछते हुए कहते हैं— ‘‘यह मेरे लिए मुमकिन कार्य नहीं है, क्योंकि वहाँ जाने के बाद वे मुझे प्रेम की डोर से बांध देंगे। इस कारण, यह

कार्य, बलराम भाई आप ही करें।” तात्पर्य, राग का यह मार्ग प्यारा लगता है, पर वीतरागी मार्ग कठिन है। ज्ञान का यह मार्ग श्रीकृष्ण या बलराम के संकेतमात्र से नहीं मिलता है। उसके लिए स्वयं पुरुषार्थ करना पड़ता है, वरना महावीर के समवशरण से हम खाली हाथ न आते।

सामान्य जनता अपने दैनंदिन जीवन में इतनी मस्त और व्यस्त होती है कि उसे पता नहीं चलता की दुनिया में और भी अधिक सुखकारी जगह है। एक भ्रम की दुनिया में वह इस तरह रहता है, जैसे—

**ऐसे भ्रमाचे लक्षण। विसरे आपणा आप।**

**नाही काही कळे त्यासी। अपुलेच सुंदर रूप॥**

हर कोई कहता है, हम तो दररोज मंदिर जाते हैं, पूजा भी दो—तीन घंटे कर ही लेते हैं, स्वाध्याय और तीर्थ यात्रा तो हमारी दिनचर्या है और क्या करें? मानव ने अनेक देवताओं की प्रतिमाएँ निर्माण कर दीं, परंतु भगवान् ने जो जो मार्ग बताया, उसका पालन करते हैं क्या? भगवान् ने स्व का शोधन और संशोधन किया। क्या वे हमारे आदर्श नहीं हैं? अगर हैं, तो उनके पथ पर हमें निःशंक होकर चलना चाहिए। समर्थ रामदास कहते हैं—

**नाना देवांच्या नाना प्रतिमा। लोक पूजिती धरून प्रेमा।**

**ज्याच्या प्रतिमा तो परमात्मा । कैसा आहे॥**

**ऐसे ओळखिले पाहिजे ॥**

एक साधु था। वह एक छोटे—से गांव के बाहर रहता था। उसके पास एक पारस पत्थर था। वह गांव के लोगों को कहता था— “देखो, देखो! मेरे पास यह अनमोल पत्थर है जो कि लोहे को सोना बनाता है।” यह सुनकर भी उसके पास न तो कोई



रुकता और न पूछता, क्योंकि वे सब देखते थे कि जिस डिब्बी में वह पारस पत्थर रखा था, वह डिब्बी अभी तक लोहे की ही थी, सोने की नहीं हुई थी। एक दिन एक जिज्ञासु व्यक्ति साधु के पास आया और बोला— “महाराज, अगर, यह पारस है तो फिर यह डिब्बी काली और लोहे की क्यों है?” साधु को बड़ी खुशी हुई कि कोई जिज्ञासु इस दुनिया में अभी भी है। साधु ने डिब्बी को खोलकर दिखाया कि डिब्बी के अंदर जो पारस है, वह कागज में लपेटा हुआ है। पारस और लोहे के बीच एक परदा है, जो लोहे को सोना होने से रोक रहा है। परदा हटाते ही लोहा सोना हो गया। उसी प्रकार, जब तक आत्मा के ऊपर कर्मों के आवरण और अज्ञानता का असर है, तब तक आत्मदर्शन असंभव है। आवरण हटते ही वह सुवर्ण बनेगा। साधु ने निवेदन किया—

**बिन देखे यह मन नहि माने। बिन मन माने प्यार नहीं।  
बिना प्यार दे भगति नहीं। बिन भगति प्रभु ध्यान नहीं॥**

आत्मा की अमरता, नित्यता, ध्रुवता समझाने के लिए अनेक साधु—संतों ने अपने प्राण तक अर्पण किए। इसका एक सर्वोत्तम उदाहरण है, गुरु सुकरात का। एक दिन उन्होंने अपने शिष्य को आज्ञा दी कि वह उसे विष पिलाए, परंतु शिष्य हिचकिचाने लगा। गुरु ने कहा— “तुम लोगों के मन में आत्मा के बारे में जो शंका है, उसका मैं निरसन करना चाहता हूँ।” बड़ी हिम्मत से शिष्य ने गुरु सुकरात को विष दिया। विष का प्राशन करते ही सुकरात के होश उड़ने लगे, फिर भी हर पल वे कहने लगे— “अब मेरा हाथ सुन्न हुआ, पर मैं जीवित हूँ। मेरे पैर में, पेट में अभी तक चैतन्यता है। अब मेरा पैर भी अचेतन—सा हुआ, फिर भी आत्मा तो है।” इस प्रकार मरते दम तक सुकरात आत्मा और शरीर की भिन्नता प्रकट करते रहे और अपने शरीर

का अन्त करके उन्होंने आत्मा की अमरता व अस्तित्व का झण्डा फहराया। धन्य है वह सुकरात!

सन्तों की बात ही कुछ निराली होती है। वे अपनी हर कृति से आत्मा का अस्तित्व जाहिर करते हैं। सिकंदर राजा ने जब युद्ध में विजय प्राप्त कर ली और स्वदेश वापस लौटने लगा, तो उसे अपने गुरु के ये शब्द याद आए कि भारत से कोई सन्त जरूर साथ लाना। वह संत की तलाश करते-करते एक जंगल में पहुँचा। वहाँ 'दण्डमित्र' नाम का एक साधु बैठा हुआ था। सेनापति ने उसे साथ चलने को कहा पर साधु नहीं गया। यह देखकर खुद सिकंदर वहाँ पहुँचा और बोला— “चलो, हमारे साथ, अन्यथा तुम्हारा सिर काट दिया जाएगा।” साधु हँसा और बोला— “जब यह कार्य आप करेंगे, तो मैं भी आपके समान मेरा सिर शरीर से जुदा होते हुए देखूंगा।” यह जवाब सुन सिकंदर बिना संत के अपने देश लौट गया। अपनी बात रखने के लिए साधु-संतों ने अपनी जान तक कुर्बान की है। इसके उदाहरण हैं— एक संत को हाथी के सामने खड़ा कर मरवाया गया था। इसी प्रकार मन्सूर को, यीशू को लोगों ने जिंदा ही मार दिया था।

पुराने समय में ध्यान की परम्परा थी। जैन-दर्शन के प्रमुख आगम 'आचारांग' में महावीर की ध्यान-साधना का उल्लेख है, परंतु मध्य युग में मंत्र-तंत्र का प्रभाव बढ़ा। जैन ध्यान-पद्धति में आर्त्तध्यान, रौद्रध्यान, धर्मध्यान और शुक्लध्यान का उल्लेख है, उसी प्रकार पिंडस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत ध्यान का भी उल्लेख है। अनेक ग्रंथों में इनका विवेचन किया गया है।

जैनधर्म में आत्मा नित्य परिणमनशील है। वेदान्त आत्मा को कूटस्थनित्य मानता है। बौद्धधर्म आत्मा को अनित्य मानता है। संत रामकृष्ण ने भक्तियोग से समाधि की प्राप्ति की, तो

स्वामी विवेकानंद ने आध्यात्मिक—साधना को मानवसेवा से जोड़ा। रवीन्द्रनाथ टैगोर ने काव्य से, तो अरविन्द घोष ने योग से अध्यात्म—जगत् में प्रवेश किया। ताओ—धर्म में सद्गुणों को ही मुख्य माना है। कन्फ्यूशियन्स—धर्म भी नैतिकता को प्राधान्य देता है। पारसी—धर्म दया, दान, न्याय का अंगीकार करने को कहता है। इस्लाम—धर्म उपवास, हज, नमाज, जकात को ही मुख्य मानता है।

जिन्हें यश की प्राप्ति करना है, वे कठोर परिश्रम, तपस्या और साधना द्वारा ही उसे प्राप्त कर सकते हैं। किसी शायर ने कहा है—

‘जिसे छाले से डर है,  
वे यश के शिखर नहीं चूमते।  
मंजिल तक पहुँचाने वाली सड़क  
मखमली नहीं होती।’

जिन्हें कष्ट से डर लगता है, वे यश के शिखर पर नहीं चढ़ते। उन्हें तो छालों से डर लगता है और उस सड़क पर तो पत्थर ही पत्थर हैं, मखमल नहीं।

एक संन्यासी था। एक दिन दो चोर उसकी कुटिया में घुसे। उसकी कुटिया बहुत ही पुरानी थी। कुटिया में एक फटी चादर के सिवाय कुछ भी नहीं था। संन्यासी जाग रहा था। वह चादर ओढ़कर लेटा हुआ था। चोरों ने इधर—उधर ढूँढा, पर उन्हें कुछ भी नहीं मिला, तो संन्यासी ने उठकर कहा— ‘मेरे पास तो इस चादर के सिवाय कुछ भी नहीं है। आप इसे ले जाइए। अगर आप लोग मुझे पहले बताते, तो मैं कुछ उधार लाकर कुटिया में आपके लिए रख देता, ताकि आप उसे ले जाते, पर आपने ऐसा किया नहीं, इस कारण इस चादर को ही ले जाइए।’ चोर शर्मिदा हुए। वे कुटिया से निकल ही रहे थे कि संन्यासी ने उनके

हाथ में चादर सौंप दी। चादर देते ही संन्यासी बिना कपड़ों के टण्ड से ठिठुरने लगा। चोर लज्जित हुए और वहाँ से निकल गए। इस तरह कुछ दिन बीते। एक बार वे चोर चोरी करते हुए पकड़े गए। राजा ने उन्हें राजदरबार में बुलाया। उनके पास संन्यासी की चादर देख संन्यासी को भी बुलाया गया। संन्यासी ने अपनी जुबानी कहा— “राजन्! ये चादर मैंने ही इन्हें दी है। इन्होंने इसे चोरी नहीं की। इन्हें छोड़ दें।” संन्यासी की बात सच जानकर चोरों को छोड़ दिया गया। चोर सीधे संन्यासी की कुटिया में पहुँचे और उनसे क्षमा मांगी। संन्यासी बोला— “आप यहाँ वापस आएँगे, यह तो मैं जानता था, क्योंकि इस चादर में लिपटी हुई है, मेरी बरसों की साधना, मंत्रों की शक्ति तथा ध्यान का प्रभाव, इसी कारण यह चादर मैंने आपको दी थी।” साधु—संत हमें किसी ना किसी तरह से जगाते ही रहते हैं। क्या हम जागेंगे?

अपराधी तो हम खुद हैं, जो अपने आतमराम को भूल गए। एक महानिद्रा में हम सोए हैं। अपराधी तो मैं ही हूँ, जो मैंने मेरा स्वरूप नहीं जाना।

संत रामदास स्वामी कहते हैं कि भक्तिमार्ग में तीन प्रचिती आवश्यक हैं— १) गुरुप्रचिती २) शास्त्रप्रचिती ३) आत्मप्रचिती। प्रथम, भगवान् को जानकर फिर उसे भजें। हजारों लोगों में से एक ही परमार्थ का मार्ग अपनाता है। ऐसे हजारों में से एक ही स्वरूप की तरफ चलता है और उन हजारों में से एक ही अपने मूल स्वरूप को प्राप्त करता है। भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

**नहि ज्ञानेन सदृश्यम् पवित्र मिह विद्यते।**

**ज्ञान के समान पवित्र कोई भी वस्तु नहीं है।**

कल मैं निरंकारी बाबा के आश्रम में गई थी। वहाँ पर करीब दो सौ लोग थे। एक गुरु उच्च आसन पर बैठे थे। सभी लोग प्रथम उनके पैर छूकर, बाद में अपने आसपास बैठे लोगों

के पैर छूकर अपनी सीट पर बैठ रहे थे। मुझे वह देखकर कुछ अचंभा हुआ। बाबा का कहना है कि हम सभी समान हैं। कोई भी उच्च, नीच नहीं है। आत्मा निरंकारी है। वह इस शरीर में रहती है। इस कारण शरीर भी पवित्र है। आत्मा इस शरीर से भिन्न है, पर वह इसी शरीर में रहती है। यह बात निरंकारी आश्रम में बताई जाती है। जैन—धर्म भी यह बात दोहराता है—

**देहदेवल में रहे, पर देह से जो भिन्न है।**

**है राग, किन्तु उस राग से भी अन्य है।**

देह और आत्मा तो भिन्न—भिन्न हैं, पर हमारे अंदर जो राग—द्वेष आदि विकार हैं, उनसे भी आत्मा अन्य है। आत्मा शुद्ध है, जैसे एक आईना, जिसमें अनेक चेहरे दिखते हुए भी वह स्वच्छ, साफ होता है, पर यह समझने के लिए ज्ञान की साधना जरूरी है, वह भी आत्मज्ञान की।

एक बार एक देहाती अपनी पत्नी के लिए दर्पण लाता है। देहाती को बहुत भूख लगी थी, इस कारण वह हाथ—पैर धोने के लिए बाहर की तरफ जाता है। पत्नी बड़ी बेताबी से उस दर्पण को देखती है, पर उसमें कोई परायी स्त्री देखकर चिल्लाती है— “मेरा पति सौतन लेकर आया है।” वह रोना—धोना करके रसोईघर में खाना परोसने के लिए जाती है। इतने में उसकी सास भी अपना चेहरा दर्पण में देखकर चिल्लाती है— “अरे मूर्ख! दूसरी सौतन लाना ही थी, तो जवान ही लाता। मेरे समान बूढ़ी क्यों लाया?”

कितना अज्ञान है? अज्ञानता के कारण हम गलत मार्ग पर चलते हैं, गलत ख्वाब देखते हैं। आध्यात्मिक—जगत् में जाने के लिए भावशुद्धि बहुत महत्वपूर्ण है। आलोचना, पश्चाताप के आंसू तथा प्रायश्चित्त हमारी गलतियों से कुछ हद तक राहत दे सकते हैं। तीन बातें महत्वपूर्ण हैं— लक्ष्य, क्रिया और निष्पत्ति।

एक व्यक्ति बहुत भूखा था, पर उसे कोई भी भिक्षा नहीं दे रहा था। उसने एक साधु को देखा, जिसे सभी लोग फल, मिठाई तथा खाना दे रहे थे। यह देखकर वह व्यक्ति भी साधु का वेश धारण करके पुनः नगर में पहुँचा। अब उसे भरपेट खाना मिला, पर उसका यह कार्य गलत था, क्योंकि साधु बनकर सिर्फ पेट भरना उसका ध्येय था।

**घर माही मिलतो नहीं, खावण पूरो अनाज।  
भेख लियो भगवानरो, करवा लाग्यो राज॥**

घर में अनाज नहीं, इस कारण ली हुई दीक्षा या साधुत्व से आध्यात्मिक—उन्नति का मार्ग नहीं हो सकता।

इस दुनिया में बहुत—से लोग सिर्फ शरीर का रोग दूर करने के लिए कुछ भी करने को तैयार रहते हैं। इसके लिए वे कितना ही समय और पैसा खर्च कर देते हैं, परंतु आत्मा का रोग दूर करने के लिए उनके पास समय नहीं है। देखिए, एक बेबस आत्मा क्या कह रहा है—

**शीशमहल में बैठा आतमा, जाने क्या सोचा करता,  
कोई ढूँढे पागल मुझको, राह देखा करता।  
कोई न आता, हाल न पूछता था,  
समय बीत गया कई जन्मों का॥**

आज हमें सारी सुविधाएँ उपलब्ध हैं। देह है, जो कि स्वस्थ है, तन्दुरुस्त है। सारे आगम, शास्त्र हमारा इंतजार कर रहे हैं। समय है, मन्दिर हैं, संत हैं। नहीं है, तो सिर्फ हमारी रुचि। सत्संग बहुत आवश्यक है।

मीराबाई को संत रैदास ने मार्ग दिखाया। कृष्ण की मूर्ति लेकर नाचने वाली मीरा को पूर्णानुभूति उनके गुरु के कारण हुई। खुद को जान। तू कौन है? कहाँ से आया है? तेरा स्वरूप क्या है? तेरे जीवन का उद्देश्य क्या है? इसका जरा पता तो कर।

एक गांव में पति—पत्नी अपने घर के आँगन में सोए हुए थे। वहाँ एक चोर आया। वह चोर दीवार पर चढ़ा। पत्नी ने किसी का सिर देखा, तो वह अपने पति से कहने लगी— ‘देखो जी, कोई अपने घर के अंदर जा रहा है।’ पति ने कहा— ‘मैं देख लूंगा।’ पत्नी फिर से कहने लगी— ‘देखो, अब तो घर के अंदर चोर गया है, कुछ कीजिए।’ पति लेटे—लेटे बोला— ‘मुझे बात पता है। ज्यादा बड़बड़ मत कर।’ चोर घर के अंदर से पोटली बांधकर निकल रहा था। पत्नी फिर झटके से बोली— ‘वह देखो, चोर हमें लूटकर जा रहा है।’ पति—पत्नी ने बातें कीं, लेकिन चोर के बारे में कुछ नहीं किया। वे सिर्फ पछताते रहे। कहीं हमें भी पछताना न पड़े। हमें जागना चाहिए।

हमारी वासनाएँ, इच्छाएँ, उमंगें कभी—भी समाप्त नहीं होती। एक इच्छा पूरी हुई, तो दूसरी सामने खड़ी होती है। तृष्णा का जन्म दुःख का कारण है, यह गौतम बुद्ध ने बताया।

**माया मरी न मन मरा, मर मर गए शरीर।**

**आसा तृष्णा ना मरी, कह गए दास कबीर॥**

कई लोग पूछते हैं— ‘क्या दररोज सत्संग की जरूरत है? हम दररोज अच्छा कार्य करते हैं, पुण्य करते हैं, मंदिर जाते हैं, क्या वह ठीक नहीं है?’ यही प्रश्न कबीर से एक व्यक्ति ने पूछा, पर कबीर चुप रहे और उन्होंने एक कील पर हथौड़े से प्रहार किया। वह आदमी कुछ समझ न पाया। दूसरे दिन वह व्यक्ति फिर उसी प्रश्न के उत्तर के लिए कबीर के पास गया। कबीर ने बिना कुछ कहे फिर उसी कील पर जोर से हथौड़ा मारा। जब वह आदमी कुछ समझ न सका, तो कबीर ने उससे कहा— ‘कील को संस्कार से पक्का किया है।’ इस दुनिया में हमारा कोई नहीं है। हम अकेले आए हैं और अकेले ही जाएँगे, खाली हाथ ही जाएँगे। ये रिश्ते, ये संयोग, सभी थोड़े समय के हैं। वे भी हर पल बदलते रहते हैं। आज जो बात है, जैसी है,

वैसी ही कल हो, यह जरूरी नहीं है। अगर सब कुछ बदल रहा हो, तो कुछ तो नित्य होगा। हाँ, सिर्फ एक बात नित्य है— आत्मा। हमें उसे ही जानना है।

एक बार एक लड़का यीशू के पास गया और कहने लगा— “मुझे आपके पास ही रहना है, पर घरवाले मुझे बहुत प्यार करते हैं। वे मेरे बिना नहीं रहेंगे।” तब यीशू हँसकर बोले— “कोई भी तुमसे प्यार नहीं करता। यह बात मैं साबित कर सकता हूँ। मैं जैसा कहूँ, वैसा ही करना।” यीशू के बताने पर वह लड़का ‘पेट में बहुत दर्द है’— ऐसा कहते हुए घर पहुँचकर जोर—जोर से रोने लगा। तब सभी परिजन उसका हाल पूछने के लिए उसके पास आए। कोई उसे पानी देता, कोई दवा देता, पर लड़के का रोना कम नहीं हुआ। लड़का मरने का ढोंग करने लगा। उसी वक्त वहाँ पर यीशू आए और कहने लगे— “इस बीमारी का एक इलाज है। एक कटोरी में दूध लाओ।” दूध आने पर यीशू कुछ मंत्र पढ़कर कहने लगे— “इस मन्त्र से प्रभावित दूध को जो कोई पीएगा, वह तुरंत मरेगा, पर उसके बदले यह लड़का जीवित होगा।” वह दूध पीने के लिए कोई भी तैयार नहीं हुआ। सभी ने अनेक कारण बताए। कोई भी मरने के लिए तैयार नहीं था। यह देखकर खुद यीशू उस दूध को पी गए और लड़का जीवित हो गया, पर यीशू को कुछ नहीं हुआ। लड़का उठकर खड़ा हुआ और बिना कुछ कहे यीशू के साथ चल पड़ा। उसने तो दुनिया का स्वार्थ देख लिया था, अब तो सिर्फ अपना कल्याण करना ही उसका ध्येय था।

ध्यानावस्था को उपलब्ध साधक शनैः—शनैः शरीर, मन और इन्द्रियों से पृथक्त्व की अनुभूति करते हुए एक दिन शरीर व मन के रहते हुए भी उनसे पृथक् हो जाता है।

**दुविहं पि मोक्खहेउं, ज्झाणे पाउणदि जं मुणी णियमा  
तह्हा पयत्तचित्ता जूयं ज्ञाणं समब्भसह।**



अर्थात्, नियमपूर्वक ध्यान से मुनि निश्चय व व्यवहार— दोनों प्रकार के मोक्ष को पाता है, इसलिए तुम एकाग्रचित्त से ध्यान करो। आत्मा की अनुभूति होगी।

चारित्र—भावना के बल से जो ध्यान में लीन है, उसे नूतन कर्मों का ग्रहण नहीं होता। पुराने कर्मों की निर्जरा होती है और शुभ कर्मों का आश्रव होता है, अथवा जैसे मेघपटल पवन से ताड़ित होकर क्षणमात्र में पलायन कर जाते हैं, वैसे ही धर्मध्यान रूपी पवन से उपहत होकर कर्म—मेघ भी पलायन करते हैं।

स्वाध्याय एक चिंगारी है, ध्यान उसी से उत्पन्न अग्नि है, जो कर्मों को जलाती है। ध्यान पर आरूढ़ ध्याता चूँकि इष्ट—अनिष्ट विषयों में रागद्वेष और मोह से रहित हो जाता है, इसलिए उसके जहाँ नवीन कर्मों के आगमन का निरोध है, वहाँ उस ध्यान से उद्दीप्त तप के अभाव से पूर्वसंचित कर्मों की निर्जरा भी होती है। इस प्रकार वह ध्यान—परम्परा से निर्वाण का कारण है। इस तरह ध्यान, साधक जीवन का अभिन्न अंग है। इतना महत्वपूर्ण होते हुए भी वर्तमान में उस ध्यान—पद्धति में निपुण साधक तथा व्यवस्थित ध्यान—पद्धति उपलब्ध नहीं है, यह खेद की बात है।

बौद्ध—दर्शनानुसार समाधि का अर्थ है— 'कुशल चित्त की एकाग्रता।' कुशल चित्त का अर्थ है, ऐसा चित्त, जो राग—द्वेष और मोह से विहीन है। बौद्ध—दर्शन में समाधि के दो प्रकार हैं। उपचार—समाधि और अर्पणा—समाधि। जब तक ध्यान क्षीण रहता है, तब तक अर्पणा की उत्पत्ति नहीं होती, तब तक उपचार समाधि रहती है। बौद्ध—दर्शन कहता है कि निर्वाण ही दुःख का अन्त है। प्रथम अवस्था में साधक अनन्त आकाश पर चिन्तन करता है। द्वितीय अवस्था में विज्ञानायतन रूप है, जिसमें साधक को आकाश स्थूल लगता है और विज्ञान सूक्ष्म जान पड़ता है। तृतीय अवस्था में आकिंचन्यायतन पर ध्यान किया जाता है। विपश्यना का अर्थ है— विशेष रूप से, सही रूप से, जो जैसा है, उसे उसी स्वरूप में देखें।

●

# आत्मा—विषयक विभिन्न मत

जैन—दर्शन आत्मवादी दर्शन है, अतः उसमें आत्मा का महत्वपूर्ण स्थान है। आत्मा ही एक चेतन तत्त्व है। जैनग्रन्थों में आत्मा के लिए जीव, सत्त्व, प्राणी, भूत आदि पर्यायवाची शब्द भी उपलब्ध होते हैं। जैन—आगमों में आत्मा शब्द के स्थान पर प्रायः जीव शब्द का प्रयोग अधिक किया गया है। आत्मा और जीव शब्द जैनदर्शन में एक ही अर्थ में ग्रहीत हैं, जबकि अन्य दर्शनों में जीव और आत्मा में अन्तर किया जाता है। उपनिषदों में तो आत्मा को ब्रह्म का पर्यायवाची माना गया है। ('अयं आत्मा ब्रह्मः', माण्डूक्य २) आचारांगसूत्र का प्रारंभ आत्मा की जिज्ञासा से ही होता है। उसमें कहा गया है कि कितने ही व्यक्तियों को यह ज्ञात नहीं होता है कि—

“ मैं कौन हूँ? ”

“ मैं कहाँ से आया हूँ? ”

इस प्रकार उसमें आत्मज्ञान को साधक—जीवन की प्राथमिक आवश्यकता बताया गया है। उसमें कहा गया है कि जो आत्मवादी होगा, वही लोकवादी अर्थात् संसार की सत्ता को माननेवाला होगा। अनात्मवादी बौद्धदर्शन में कूटस्थनित्य आत्मा का चाहे निषेध किया गया हो, किन्तु परिवर्तनशील चित्त की सत्ता को तो बौद्धाचार्यों ने भी स्वीकार किया है। आधुनिक विज्ञान भी चाहे नित्य और स्वतंत्र आत्मतत्त्व को स्वीकार न करता हो, फिर भी वह विश्व में जीवन और चेतन—सत्ता के अस्तित्व को नकारता नहीं है।

**उपनिषद्—** आत्मा के विभिन्न स्तरों के उल्लेख हमें उपनिषदों में प्राप्त होते हैं। तैत्तरीयोपनिषद् में आत्मा के अन्नमयकोश,

प्राणमयकोश, मनोमयकोश, विज्ञानमयकोश और आनन्दमयकोश— ऐसे पाँच स्तरों का विवेचन उपलब्ध होता है। उपनिषदों में आत्मा को देह से विलक्षण, मन से भी भिन्न, विपु, व्यापक और अपरिणामी भी बताया गया है। उसे वचन से अगम्य कहते हुए नेति—नेति के द्वारा बताया गया है।

**सांख्यदर्शन—** सांख्यदर्शन में आत्मा को नित्य, निष्क्रिय, सर्वगत एवं चिद्स्वरूप, अमूर्त, चेतन, अकर्ता, भोक्ता, निर्गुण और सूक्ष्म—रूप माना गया है। सांख्यदर्शन में आत्मा के लिए 'पुरुष' शब्द का प्रयोग हुआ है।

**न्यायदर्शन—** न्यायदर्शन में जीव शब्द के स्थान पर आत्मा शब्द मिलता है। ईर्ष्या, द्वेष, प्रत्यय, सुख, दुःख ज्ञानादि आत्मा के आगन्तुक लक्षण बताए गए हैं। ज्ञानादि को आत्मा का स्वभाव न मानकर उसका विभाव माना गया है।

**वेदान्तदर्शन—** आत्मा एक है, किन्तु शरीरादि उपधियों के कारण वह भिन्न प्रकार से दृष्टिगोचर होती है। यह दर्शन एकतत्त्ववादी है। ब्रह्मबिन्दु उपनिषद् में निम्न प्रकार से बताया गया है— “एक एवं ही भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः।”

**बौद्धदर्शन—** बौद्धदर्शन को अनात्मवादी दर्शन कहा जाता है। आत्मा के अस्तित्व को वह वस्तुसत्य न मानकर केवल काल्पनिक संज्ञा मानता है। आत्मा पंच स्कन्धों का समूहमात्र है और प्रतिक्षण परिवर्तनशील है, पर जैन दर्शन ने आत्मा को परिणामी—नित्य माना है। आत्मा अपने चैतन्य स्वरूप को अखण्ड रखती रहती है। प्रत्येक जीव की स्वतंत्र सत्ता है और विश्व में जीवों की संख्या अनन्त है।

आचारांगसूत्र में आत्मा के स्वरूप की चर्चा करते हुए कहा गया है— “जे आया से विण्णाया, जे विण्णाया से आया”,

अर्थात् जो विज्ञाता है, वही आत्मा है, जो आत्मा है, वही विज्ञाता है। आत्मा को परिभाषित करते हुए अभिधान—राजेन्द्रकोश में कहा गया है— “अतति इति आत्मा”, जो गमन करती है, वही आत्मा है। आचार्य कुन्दकुन्द के अनुसार जो सर्व विचार—विकल्पों से शून्य है, वही आत्मतत्त्व या समयसार है। वह केवलज्ञान और केवलदर्शन से युक्त, अर्थात् विशुद्ध ज्ञाता—दृष्टा स्वभाववाली है। चैतन्यता के साथ—साथ आत्मा विवेकशील तब भी है। चार्वाक कहता है कि आत्मा जड़ है। कई दार्शनिक उसे शून्य कहते हैं।

आत्मा के अस्तित्व के प्रति संशय स्वयं ही आत्मा की सत्ता को सिद्ध करता है, क्योंकि संशयकर्ता के बिना संशय संभव नहीं है और जो संदेह या संशय का कर्ता है, वही तो आत्मा है। जैन—दर्शन के अनुसार सुख, दुःखादि आत्मा के कारण ही होते हैं।

ब्रह्मसूत्रभाष्य में आचार्य शंकर भी कहते हैं कि जो निरसन कर रहा है, वही तो उसका स्वरूप है। इस प्रकार, आचार्य शंकर भी आत्मा के अस्तित्व के लिए स्वतःबोध को स्वीकार करते हैं।

पाश्चात्य दार्शनिक डेकार्ट भी संशय के आधार पर आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध करते हैं। उनका कहना है कि किसी भी सत्ता के अस्तित्व में सन्देह किया जा सकता है, किन्तु सन्देहकर्ता के अस्तित्व में सन्देह करना असम्भव है। डेकार्ट कहते हैं— “मैं सन्देहकर्ता हूँ, अतः मैं हूँ।” इस प्रकार डेकार्ट ने भी आत्मा के अस्तित्व को स्वतःसिद्ध माना है।

जैनदर्शन के समान गीता भी आत्मा को नित्य—द्रव्य के रूप में स्वीकार करती है। उसमें आत्मा के सम्बन्ध में जैनदर्शन के समान ही कहा गया है। चार्वाकदर्शन के अनुसार देह नष्ट होते ही आत्मा भी सदा के लिए नष्ट हो जाती है।

## आत्मा एक मौलिक तत्त्व है—

आत्मा एक मौलिक तत्त्व है— यह सिद्धान्त चार्वाक को छोड़कर समस्त भारतीय—दर्शनों ने स्वीकार किया है। उनके अनुसार संसार जड़—चेतन, जीव—पुद्गल या आत्म और अनात्म का संयोग है। डॉ. सागरमल जैन के अनुसार इससे सम्बन्धित चार प्रमुख धारणाएँ हैं।

१. मूल तत्त्व जड़ है। उसी से चेतन की उत्पत्ति होती है। चार्वाक दार्शनिक एवं अजितकेशकम्बलिन आदि भौतिकवादी इस मत का प्रतिपादन करते हैं।

२. मूल तत्त्व चेतना है और जड़ की सत्ता उसी पर आश्रित मानी जा सकती है। बौद्ध, शंकर, वेदान्त तथा पाश्चात्य विचारक बर्कले इस मत का प्रतिपादन करते हैं।

३. कुछ विचारक ऐसे भी हैं, जिन्होंने उसे जड़—चेतन उभय रूप में स्वीकार किया और दोनों को ही उसकी पर्याय या अवस्था माना। गीता, रामानुज और स्पिनोजा इस मत का प्रतिपादन करते हैं।

४. कुछ विचारक जड़ और चेतन— दोनों को परमतत्त्व मानते हैं और उनके स्वतंत्र अस्तित्व में विश्वास करते हैं। सांख्य, जैन और डेकार्ट इस धारणा में विश्वास करते हैं।

जैन—दृष्टियों में आत्मा का स्वलक्षण उपयोग अर्थात् ज्ञान—दर्शन है। दूसरे शब्दों में, ज्ञातादृष्टा—भाव ही आत्मा का निजगुण है।

समयसार नाटक की ११वीं गाथा मोक्षद्वार तथा नियमसार की १०२वीं गाथा में कहा गया है—

**चेतन लक्षण आत्मा, आत्तम सत्त माहि।  
सत्ता परिमित वस्तु है, भेद तिहुं मे नाहि॥**

चेतन कभी भी अपनी चैतन्य अवस्था का त्याग नहीं करता है, यह जिनेश्वर देव का वचन है। जैनदर्शन में आत्मा को परिणामी—नित्य कहा गया है, अर्थात् आत्मा नित्य होते हुए भी परिवर्तनशील है, अर्थात् उसकी उपयोग या ज्ञानरूप पर्यायों में परिणमन होता रहता है। जैन—दार्शनिकों के अनुसार आत्मा का यह परिणमन तीन प्रकार का है—

१. ज्ञान—चेतना
२. कर्म—चेतना (संकल्प)
३. कर्मफल—चेतना (सुख—दुःखरूप अनुभूति)

शुद्धस्वभाव में परिणाम करने वाली चेतना ज्ञानचेतना है, जबकि रागादि भावों में परिणमन करने वाली चेतना कर्मचेतना है और सुख—दुःखादि का अनुभव करने वाली चेतना कर्मफल—चेतना है।

आधुनिक मनोविज्ञान में भी चेतना के तीन रूप माने गए हैं—

१. Knowing (जानना)
२. Willing (इच्छा करना)
३. Feeling (अनुभव करना)

मनोविज्ञान की शब्दावली में इन्हें— १. ज्ञान २. संकल्प ३. अनुभूति कहा जाता है।

समयसार नाटक में बनारसीदासजी ने कहा है कि ज्ञानचेतना मुक्तिबीज है और कर्मचेतना संसार का बीज है। तीनों चेतनाओं में ज्ञानचेतना को परमात्मा, कर्मफलचेतना को अन्तरात्मा और कर्मचेतना को बहिरात्मा का विशेष लक्षण कहा जाता है।

जैन—दार्शनिकों ने आत्मा को शुभ—अशुभ कर्मों या द्रव्य—कर्म एवं भावकर्म का कर्त्ता स्वीकार किया है। न्यायवैशेषिक, मीमांसा

एवं वेदान्त—दार्शनिकों ने भी जैन—दार्शनिकों की तरह आत्मा में कर्तृत्व—गुण स्वीकारा है। समयसार में कहा गया है— “**यः परिणमति सकर्ता।**” आत्मा रागद्वेषादि भावकर्मों की कर्ता है— यह कथन अशुद्ध निश्चयनय के अनुसार है और आत्मा शुद्धचेतन—ज्ञान—दर्शनस्वरूप शुद्ध भावों की कर्ता है— यह कथन शुद्ध निश्चयनय का है।

आत्मा स्वयं अपने सुख—दुःख की कर्ता है और स्वयं ही उनकी भोक्ता है। दुप्रतिष्ठित आत्मा ही अपनी शत्रु होती है और निश्चयनय से संसार में न तो कोई दूसरा व्यक्ति किसी को सुखी करता है और न वह किसी को दुःखी करता है, किन्तु आत्मा स्वयं स्वोपार्जित कर्मों से ही सुखी—दुःखी होती है। वेदान्तदर्शन में आत्मा को सत्—चित् एवं आनन्द—रूप स्वीकार किया गया है। जैन—दार्शनिकों का कहना है कि संसारी आत्मा जब तक कर्मों से युक्त है, तब तक ही वह पुद्गल—कर्मों की कर्ता और भोक्ता है। सांख्यदर्शन में पुरुष (आत्मा) को कूटस्थ—नित्य माना गया है, अतः वह अकर्ता है। उसकी मान्यता है कि प्रकृति परिणामी होने के कारण वही कर्मों की कर्ता है। पुण्य—पाप, बन्धन—मुक्ति आदि का सम्बन्ध प्रकृति से ही है, पर जैन—दर्शन कहता है— प्रकृति जड़ है, तो फिर वह चेतन भावों की कर्ता नहीं हो सकती, परन्तु सांख्यदर्शन पुरुष को अकर्ता मानकर भी, उसे भोक्ता भी मानता है।

बौद्धदर्शन में आत्मकर्तृत्व की समस्या नहीं है। बौद्धदर्शन अनात्मवादी दर्शन है, फिर भी वह चेतना के कर्तृत्व को स्वीकार करता है। कोई आत्मा दूसरे को शुद्ध या अशुद्ध नहीं कर सकती— ऐसा धम्मपद का कथन है।

गीता कूटस्थ—आत्मवाद को स्वीकार करती है। इसमें भी आत्मा को अकर्तारूप स्वीकार किया गया है। प्रकृति से भिन्न

विशुद्ध आत्मा अकर्ता है। आत्मा का कर्तृत्व प्रकृति के संयोग से है। निश्चयनय से अकर्ता में कर्मपुद्गलों के निमित्त कर्तृत्वभाव को जैनदर्शन में भी स्वीकार किया गया है, जो आचार्य कुन्दकुन्द के दृष्टिकोण से अत्यधिक निकट है।

सभी भारतीय—दार्शनिकों की तरह जैन—दार्शनिकों ने भी आत्मा को अपने कृत कर्मों के फलों का भोक्ता माना है। जैन—दार्शनिक आत्मा को मात्र उपचार से कर्मफलों का भोक्ता न मानकर, वास्तविक रूप से भोक्ता मानते हैं।

### नित्य—आत्मवादः—

भारतीय—दर्शनों में चार्वाकदर्शन आत्मा की नित्यता एवं पुनर्जन्म के सिद्धान्त को नहीं मानता है। बौद्धदर्शन भी नित्यआत्मवाद को नहीं मानता है, परन्तु पुनर्जन्म को स्वीकार करता है। शेष सभी भारतीय दर्शन आत्मवादी ही हैं और पुनर्जन्म को स्वीकार करते हैं। उपनिषद्, वेदान्त, सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, मीमांसक आदि आत्मा की नित्यता को मानते हैं। आत्मा अनादि एवं शाश्वत है। ईसाई और इस्लाम—धर्म पुनर्जन्म नहीं मानते, फिर भी मृत्यु के उपरांत शुभाशुभ कर्मों का फल मानते हैं।

जैन—दार्शनिकों ने आत्मा को अपेक्षा—भेद से देहव्यापी एवं सर्वव्यापी माना है। आत्मा नित्य ज्ञानमय है। यहां तक कि संसारी—आत्मा को देह—परिणाम ही माना है।

जैनदर्शन में आत्मा का स्वलक्षण उपयोग कहा गया है। यह उपयोग दो प्रकार का है—

१. ज्ञानोपयोग २. दर्शनोपयोग

वस्तु या ज्ञेय को जानने—रूप प्रवृत्ति को ही उपयोग बताया गया है। भगवतीसूत्र में कहा गया है—

“उवओग लक्खणे णं जीवे।”



उत्तराध्ययनसूत्र में—

“जीवो उवओग लक्खणो।”

ठाणांगसूत्र में—

“गुणओ उवयोग गुणो।”

तत्त्वार्थसूत्र में ‘उपयोगो लक्षणम्’ कहा गया है। उपयोग के दो भेद हैं—

१. साकार उपयोग (सविकल्प) और
२. निराकार उपयोग (निर्विकल्प)

साकार उपयोग वस्तु के विशेष स्वरूप को ग्रहण करता है और निराकार उपयोग वस्तु के निराकार उपयोग को ग्रहण करता है।

उत्तराध्ययनसूत्र में आत्मा के लक्षण ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, वीर्य और उपयोग बताए गए हैं, फिर भी आत्मा का असाधारण लक्षण तो उपयोग ही है। उपयोग का अर्थ बोधरूप व्यापार किया जाता है। उपयोग शब्द की उत्पत्ति इस प्रकार से है—

**उपयुज्यते वस्तुपरिच्छेदं बोध—रूप व्यापयति जीवोऽनेनेत्युपयोगः।**

अर्थात्, जीव जिसके द्वारा वस्तु का परिच्छेद, अर्थात् बोधि—रूप व्यापार करता है या उसमें प्रवृत्त होता है, उसे ही उपयोग कहा जाता है। जीव का मुख्य लक्षण उपयोग ही है। निगोद को जीव की अविकसित अवस्था मानी जाती है। क्या उस अवस्था में उपयोग हो सकता है ? इसके उत्तर में कहा गया है कि निगोद में भी जीव को अक्षर के अनन्तवें भाग जितना ज्ञान अवश्य होता है, क्योंकि इतना भी ज्ञान न हो, तो निगोद के जीव और जड़ में क्या अन्तर रहेगा ? इसका स्पष्टीकरण यह होगा कि संसार में प्रत्येक जीव में उपयोग, अर्थात् ज्ञानात्मक

गुण होता है, पर जीव के विकास की अपेक्षा से भिन्न—भिन्न प्रकार का होता है, अर्थात् उसमें तारतम्य रहता है।

### ‘जानति इति ज्ञानम्’

अर्थात्, जो जानता है या जानने की क्रिया करता है, वह ज्ञान है। ज्ञान को ही आत्मा कहा गया है। जैनदर्शन ज्ञान को आत्मा—गुण स्वीकारता है। जैनदर्शन में आत्मा को अमूर्त द्रव्य कहा गया है। आत्मा एकान्त—रूप से न तो अमूर्त है और न मूर्त। संसार की अपेक्षा से वह कथंचित्—मूर्त भी है और शुद्ध स्वरूप की अपेक्षा से अमूर्त है।

आत्मा के अनिर्वचनीय स्वरूप को जैनदर्शन के साथ—साथ प्रायः सभी भारतीय—दर्शनों में भी स्वीकार किया गया है। आत्मा वचनातीत है एवं वाणी के द्वारा उसका वर्णन असंभव है।

जीव के दो भेद होते हैं— १. सिद्ध २. संसारी।

भगवतीसूत्र में अष्टविध आत्माओं का एक विशिष्ट वर्गीकरण उपलब्ध है— १. द्रव्यात्मा २. उपयोगात्मा ३. ज्ञानात्मा ४. दर्शनात्मा ५. चारित्रात्मा ६. वीर्यात्मा ७. योगात्मा ८. कषायात्मा।<sup>१९</sup>

इस प्रकार, आत्मा और ध्यान का ज्ञान हमें हमारी मंजिल तक ले जाएगा, जो कि आत्मदर्शन है, इससे कबीर के समान ‘सहजे सहजानन्द, अंतरदृष्टि परमानन्द’ की स्थिति होगी।

## ध्यान की परम्परा

आचार्य कुन्दकुन्द, जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण और पूज्यपाद के ग्रन्थों में ध्यान की मौलिक परम्परा सुरक्षित रही है। वह किसी अन्य परम्परा से प्रभावित नहीं है। विक्रम की आठवीं शताब्दी में हरिभद्रसूरी हुए। उन्होंने योग पर अनेक ग्रन्थ लिखे, जैसे—योगबिन्दु, योगदृष्टिसमुच्चय, योगविंशिका, षोडशक आदि, किन्तु महर्षि पतंजलि के योगसूत्र की कुछ विशेषताएं हैं—

१. वह बहुत व्यवस्थित ग्रन्थ है।
२. बहुत स्पष्ट, सरल और संक्षिप्त है।
३. कोई खंडन नहीं।

यह सांख्य—दर्शन की साधना—विधि का प्रतिनिधि ग्रन्थ है। प्राचीनकाल में सांख्य—दर्शन श्रमण—परम्परा का एक अंग था। श्रमणों के पांच मुख्य दर्शन थे— जैन, बौद्ध, आजीवक, परिव्राजक और तापस।

आचार्य हरिभद्र ने योग के पांच प्रकार बतलाए हैं—अध्यात्म, भावना, ध्यान, समता, वृत्तिसंचय। उन्होंने योगदृष्टिसमुच्चय में आठ दृष्टियों का निरूपण किया और अष्टांगयोग से तुलना की। भारतीय—परम्परा की वैदिक, जैन एवं बौद्ध—परम्परा में ध्यान—विषयक चिंतन मिलता है। भारतीय—संस्कृति में सबसे प्राचीन ग्रन्थ वेद हैं। वैदिक—परम्परा में ध्यान का अस्तित्व, चाहे तप के रूप में, चाहे योग के रूप में किसी—न—किसी प्रकार से अवश्य रहा है। उस काल में विद्वानों का कोई भी यज्ञ—कर्म बिना ध्यान के सिद्ध नहीं होता था। उपनिषद्—काल में भी ध्यान का महत्व रहा। श्वेताश्वतरौपनिषद् में स्पष्ट रूप से ध्यान का वर्णन मिलता है। इस उपनिषद् में कहा

गया है कि जिस प्रकार तिलों में तेल, दही में घी एवं अरणियों में अग्नि छिपी रहती है, उसी प्रकार से परमात्मा हमारे हृदय में छिपे रहते हैं।

### महाभारत में ध्यान—

महाभारत में कहा गया है कि जीव को सर्वप्रथम अपनी इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करना चाहिए, क्योंकि इन्द्रियां चंचल, अस्थिर होती हैं। इन्द्रियों पर विजय पाने के पश्चात् मन को स्थिर कर पंचेन्द्रिय सहित मन को ध्यान में एकाग्र करना चाहिए। ध्यान के द्वारा जीव अपने सभी दोषों को नष्ट करके मोक्षपद को प्राप्त करता है एवं परमात्मा के स्वरूप में लीन हो जाता है।

### श्रीमद्भगवद्गीता में ध्यान—

गीता में 'योग' शब्द बहुत बार आया है। गीता में स्वतः— सिद्ध समता के स्वरूपवाली स्थिति को योग कहा गया है। इसमें कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग एवं ध्यानयोग आदि का उल्लेख किया गया है। गीता के छठवें अध्याय में श्लोक १० से ३२ तक ध्यानयोग का ही वर्णन है। गीता में परम योगी का लक्षण बताते हुए कहा गया है कि जो ध्यानयुक्त ज्ञानी महापुरुष अपने को सबमें तथा सबको परमार्थस्वरूप में स्थित मानता है एवं सुख—दुःख सभी स्थितियों में समभाव से रहता है, वह परमयोगी है।

### स्मृति—ग्रन्थों में ध्यान—

स्मृतियों में मोक्ष को प्राप्त करने के लिए जप, तप एवं योगीन्यास का वर्णन मिलता है। मन और बुद्धि को विषयों से हटाकर ध्येय को आत्मा में स्थित करना चाहिए।

## पुराणों में ध्यान—

श्रीमद्भागवत्पुराण में भक्तियोग के साथ—साथ अष्टांग—योग का भी वर्णन किया गया है। शिवपुराण में ध्यान के दो भेदों का उल्लेख है— १. सविषयक ध्यान २. निर्विषयक ध्यान। पुराणों में बताया गया है कि ध्यान के समान कोई तीर्थ नहीं है, न कोई यज्ञ है, इसलिए ध्यान आवश्यक है।

## योगवशिष्ठ में ध्यान—

जब योगी अपने मन को पूरी तरह शान्त कर लेता है, तभी उसको ब्रह्मतत्त्व प्राप्त होता है।

## पातंजल—योगसूत्र में ध्यान—

पातंजलि का योगसूत्र चार पादों में विभक्त है और १९५ सूत्रों से सुशोभित है। प्रथम पाद का नाम समाधिपाद है। इसमें योग के लक्षण, स्वरूप तथा उसकी प्राप्ति के उपायरूप सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात समाधियों का वर्णन है। चित्त की वृत्तियां पांच होती हैं— प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति। क्लेश पांच प्रकार के होते हैं— अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश। अभ्यास और वैराग्य से इन्हें दूर किया जा सकता है। मन की स्थिरता के लिए बार—बार प्रयास करना चाहिए। महर्षि ने अष्टांगयोग में ध्यान को सातवें क्रम में रखा है। अद्वैत—वेदान्त में अविद्या के पदों को हटाना है। अद्वैत—वेदान्त आत्मा को ब्रह्म से भिन्न नहीं मानता है। उसमें ब्रह्म को संपूर्ण सृष्टि का आधार माना है तथा ब्रह्म सगुण और निर्गुण रूप में है। वेदान्त के अनुसार समाधि दो प्रकार की है— १. सविकल्प और २. निर्विकल्प।

## प्रेक्षाध्यान में ध्यान—

प्रेक्षाध्यान— यह जैनों की ध्यान—पद्धति है, जिसे आचार्य महाप्रज्ञ ने प्रचलित किया। प्रेक्षाध्यान ध्यानाभ्यास की एक ऐसी पद्धति है, जिसमें प्राचीन दार्शनिकों से प्राप्त बोध एवं साधना—पद्धति को आधुनिक वैज्ञानिक संदर्भों में प्रतिपादित किया गया है। कायोत्सर्ग, अन्तर्यात्रा, लेश्या—ध्यान, चैतन्यकेन्द्रप्रेक्षा, शरीरप्रेक्षा, श्वासप्रेक्षा, अनुप्रेक्षा— ये सारे ध्यान के ही प्रयोग हैं। अप्रमाद की कला प्रेक्षाध्यान हमें सिखाता है। महावीर भगवान् ने भी कहा है—‘क्षणं जाणहि पंडिए।’ प्रेक्षाध्यान के आठ अंग हैं।

‘आत्मा के द्वारा आत्मा को देखो’— यह अध्यात्म—चेतना के जागरण का महत्वपूर्ण सूत्र है। इस सूत्र का अभ्यास हम शरीर से प्रारंभ करते हैं। आत्मा शरीर में है, इसलिए स्थूल शरीर को देखे बिना आगे नहीं जा सकते हैं। मध्यस्थता या तटस्थता प्रेक्षा का ही दूसरा रूप है। देखना है, परन्तु प्रियता या अप्रियता की उपेक्षा करना है।

विपश्यना में श्वास तथा मौन का अवलंबन लिया जाता है। महर्षि महेश योगी वेदमंत्रों से ध्यान सिखाते हैं।

आचार्य कुन्दकुन्द ने ध्यान को सम्यग्दर्शन और ज्ञान से परिपूर्ण और अन्य द्रव्य के संसर्ग से रहित कहा है। ध्यानशतक और आदिपुराण में स्थिर अध्यवसान को, एक वस्तु का आलम्बन लेने वाले मन को ध्यान कहा है। भगवती आराधना में एकाग्र चिन्ता निरोध को ध्यान कहा गया है। महर्षि कपिल ने राग के विनाश को तथा निर्विषय मन को ध्यान कहा है। विष्णुपुराण में ध्यान के लक्षण को स्पष्ट करते हुए यह कहा गया है कि ऐहिक विषयों की ओर से निस्पृह होकर परमात्म स्वरूप को विषय करने वाले ज्ञान की एकाग्रता को ध्यान कहा जाता है।

हठयोग में “ध्यानं निर्विषयं मनः”— इस प्रकार कहा गया है। तुकाराम महाराज मराठी अभंग में कहते हैं—

‘सुंदर ते ध्यान, उभे विटेवरी। कर कटावरी ठेवूनिया।

तुलसीहार गळ, कासे पितांबर। आवडे निरंतर हेचि ध्यान।

मकर कुंडले, तळपति श्रावणी। कंठी कौस्तुभमणी विराजीत।

तुका म्हणे माझे हेचि सर्व सुख। पाहीन श्रीमुख आवडीने॥’

यह पांडुरंग का सगुण रूप है।

भगवान् बुद्ध कहते हैं—

‘There is no meditation without wisdom nor is there wisdom without meditation. He who possess both is indeed close to Nirvana.’

दास कबीर कहते हैं—

“दास कबीर यतन से ओढी, जैसी की तैसी धर दीनी चदरियाँ।” तुम सावधानीपूर्वक इस चादर को धारण करो, मैंने इस पर दाग नहीं लगाने दिया है। ध्यान में सावधानी, जाग्रति का पहला स्थान है।

इन सब परिभाषाओं से कुछ हटकर आचार्य महाप्रज्ञ ने ध्यान का लक्षण बताया है कि ध्यान चेतना की वह अवस्था है, जो अपने आलम्बन के प्रति एकाग्र होती है, अथवा बाह्यशून्यता होने पर भी आत्मा के प्रति जागरूकता अबाधित रहती है। साथ ही, उन्होंने कहा है कि चिन्तनशून्यता ध्यान नहीं और वह चिन्तन भी ध्यान नहीं, जो अनेकाग्र है। एकाग्र—चिन्तन ही ध्यान है, भावक्रिया ध्यान है और चेतना के व्यापक प्रकाश में चित्त विलीन हो जाता है, वह भी ध्यान है।

●

# ध्यान—विषयक जैन साहित्य

१. आचारांग— यह द्वादशांगी का प्रथम अंग है। इसके नौवें अध्याय में ध्यानयोगी भगवान् महावीर की साधना की बात कही गई है। भगवान् महावीर प्रहर—प्रहर तक अपनी आँखें बिलकुल न टिमटिमाते हुए तिर्यक् भित्ति पर केन्द्रित कर ध्यान करते थे। दीर्घकाल तक नेत्रों के एकटक रहने से उनकी आँखों की पुतलियां ऊपर चढ़ जातीं, जिन्हें देखकर बच्चे भयभीत हो जाते और 'हन्त, हन्त' कहकर चिल्लाते और दूसरे बच्चों को बुलाते। इसे महावीर का त्राटक कहा है।

२. सूत्रकृतांग— पहले श्रुतस्कन्ध में दसवाँ अध्याय समाधि के वर्णन से पूर्ण है। दूसरे श्रुतस्कन्ध में ध्यान—साधक मूलगुण एवं उत्तरगुण, ध्यानयोग, समाधियोग और भावनायोग शब्दों का प्रयोग मिलता है।

३. ठाणं— तीसरे अंग में ध्यान का विशेष वर्णन है। समवायांग में धर्मध्यान का विस्तृत वर्णन है। विवाहपण्णही में धर्मध्यान और शुक्लध्यान के स्वरूप का विस्तृत विवेचन है, तो नायाधम्मकताओं में चारों ध्यान का उल्लेख है। द्वादशांग में ध्यान के स्वरूप, लक्षण आदि का वर्णन आता है। उपांग में भी ध्यान का वर्णन मिलता है। चारों मूलसूत्रों में ध्यान—साधना का वर्णन है।

आगमेत्तर ध्यान—विषयक जैन—साहित्य तथा बौद्ध—साहित्य में भी ध्यान का उल्लेख है। कुंदाकुंदाचार्य के प्रवचनसार के चारित्राधिकार में ध्यान के स्वरूप का उल्लेख किया गया है। पंचास्तिकाय में १५२ गाथा में धर्मध्यान के लोकसंस्थान—भेद का स्वरूप स्पष्ट किया गया है। ज्ञानार्णव में शुभचन्द्र आचार्य ने



ध्याता का स्वरूप, ध्यान के लक्षण तथा भेद—प्रभेद बताए हैं। अध्यात्मसार में आर्त्त, रौद्र, धर्मध्यान की विस्तृत रूप से चर्चा की गई है।

आदिपुराण, आचार्य जिनसेनरचित, में राजा श्रेणिक के पूछने पर गौतम गणधर ने ध्यान का व्याख्यान किया था। वर्तमानकालीन आचार्य तुलसी लिखित 'मनोनुशासन' में ध्यान की एक नवीन परिभाषा दी गई है। जैनयोग में आचार्य महाप्रज्ञजी ने अन्तर्यात्रा, तपोयोग, भावनायोग, चैतन्यकेन्द्र, तेजोलेश्या तथा आंतरिक उपलब्धियों का परिज्ञान कराया है। यह कृति जैनयोग व जैन साधना—पद्धति को समझने का एकमात्र माध्यम है। इसके अतिरिक्त आचार्य महाप्रज्ञ ने अपने अन्य ग्रन्थों में भी योग और ध्यान के विविध पहलुओं पर वैज्ञानिक सन्दर्भ में प्रकाश डाला है। जिस प्रकार मन चंचल है, वैसे ही निम्न वस्तुएँ भी चंचल हैं— १. मन २. भँवरा ३. मानिनी स्त्री ४. हवा ५. लक्ष्मी ६. बंदर ७. मछली ८. मेघ और ९. मदन।

●

# जैन—धर्म में ध्यान—साधना का इतिहास

जैन—धर्म में ध्यान—साधना की परम्परा प्राचीनकाल से ही उपलब्ध होती है। सर्वप्रथम हमें आचारांग में महावीर के ध्यान संबंधी अनेक संदर्भ उपलब्ध हैं। आचारांग से यह भी ज्ञात होता है कि महावीर ने न केवल चित्तवृत्तियों के स्थिरीकरण का अभ्यास किया था, अपितु उन्होंने दृष्टि के स्थिरीकरण का भी अभ्यास किया था। भद्रबाहु द्वारा नेपाल में जाकर महाप्राण ध्यान की साधना करने का उल्लेख भी मिलता है। जिस रामपुत्र का निर्देश भगवान् बुद्ध के ध्यान के शिक्षक के रूप में मिलता है, उसका उल्लेख जैन—परम्परा के प्राचीन आगमों में, जैसे—सूत्रकृतांग, अंतकृत्दशा, औपपातिक—दशा आदि में होना इस बात का प्रमाण है कि निर्ग्रन्थ परम्परा रामपुत्र की ध्यान—साधना की पद्धति से प्रभावित थी।

मध्ययुग में जब भारत में तंत्र और हठयोग संबंधी साधनाएँ प्रमुख बनीं, तो ध्यान की प्रक्रिया में परिवर्तन आया। जैसे—जैसे भारतीय—समाज में तंत्र और हठयोग का प्रभाव बढ़ा, वैसे—वैसे जैन साधना—पद्धति में भी परिवर्तन आया। जैन ध्यान—पद्धति में पदस्थ, पिंडस्थ, रूपस्थ आदि ध्यान की विधियाँ और पार्थिव, आग्नेयी, वायवी और वारुणी जैसी धारणाएँ सम्मिलित हुईं। बीजाक्षरों और मंत्रों का ध्यान करने की परंपरा विकसित हुई। जैनधर्म में आत्मा नित्य परिणमनशील है। न्याय—वैशेषिक तो आत्मा और ज्ञान को भिन्न मानते हैं। वेदान्त कहता है— आत्मा कूटस्थ—नित्य है। वह सदा नित्य अपरिणमनशील है। बौद्ध तो आत्मा को मानता है, पर उसे अनित्य ही मानता है। सब कुछ अनित्य है। जैन मोक्ष में भी ज्ञान को सुरक्षित रखता है, क्योंकि

आत्मा व ज्ञान एक ही हैं। आत्मा का गुण— ज्ञान है, ज्ञान सिर्फ ज्ञाता में है। कर्तृत्व तो जड़ में भी है। जड़ की क्रिया करने वाला जड़ ही है, पर चेतन की क्रिया करने वाला चेतन ही है। ज्ञातृत्व गुण सिर्फ चेतन में है। शब्द जड़ हैं, परन्तु शब्द निकालने वाले के कारण शब्द ज्ञानमय बनते हैं।

जैनधर्म में सर्वज्ञता को स्वीकारा गया है। उपयोग में वह क्रमिक केवलज्ञान है, पर अनुभव में परिपूर्ण है। हमारे अंदर सत्ता में वह ज्ञान (सर्वज्ञ) है, परन्तु अभिव्यक्ति में नहीं है, क्योंकि ज्ञान पर आवरण है। बीज में शक्ति है, परन्तु अभी वृक्ष की अभिव्यक्ति नहीं हुई।



# विविध साधना—पद्धति

**१. रामकृष्ण की साधना—पद्धति—** यह भक्तियोग का एक सुंदर उदाहरण है। भक्ति के तीन पहलू हैं— सात्विक, राजसिक, तामसिक। रामकृष्ण परमहंस ने साधना के सात सोपानों का वर्णन किया है। १. साधुसंग २. श्रद्धा ३. निष्ठा ४. भक्ति ५. भाव ६. महाभाव और ७. प्रेम— ये सातों ही भक्ति के भाव हैं।

रामकृष्ण ने भक्तियोग और कर्मयोग की साधना ही जीवन में श्रेष्ठ मानी।

**२. स्वामी विवेकानंद—** इनकी आध्यात्मिक—साधना का मूल स्रोत मानव—सेवा था। इनके मत से योग का भावार्थ इस प्रकार है— पूर्णत्व प्राप्त करके आत्मा की मुक्ति पाना और उसका उपाय योग है।

**३. महात्मा गांधी—** गांधी साधक, योगी और भक्त थे। उन्होंने परम शुभ सत्यान्वेषण में सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्यादि को ही माना था। गांधीजी की साधना—पद्धति के एकादश व्रत हैं, उनके नाम हैं— १. सत्य २. अहिंसा ३. ब्रह्मचर्य ४. इंद्रिय—निग्रह ५. अस्तेय ६. अपरिग्रह ७. स्वदेशी ८. अभयव्रत ९. अस्पृश्यता—निषेध और १०. देशी भाषाओं से शिक्षा।

**४. रवीन्द्रनाथ टैगोर—** उन्होंने काव्यकला के माध्यम से अनेक दिशाओं का उद्घाटन किया। वे उच्च कोटि के साधक, कवि और योगी थे। कविता की तान में तल्लीन होना ही ध्यान—योग है। इस प्रक्रिया से ईश्वरत्व की प्राप्ति होती है।

**५. अरविन्द योगी—** आत्मा का अमरत्व प्राप्त करना ही

अतिमानव बनना है। अरविन्द के योग का रहस्य रहा है— जीवन के अन्दर दिव्य शक्ति की ज्योति, शक्ति, आनंद और सक्रिय निश्चलता को उतारकर मानव—जीवन को सर्वांशतः रूपान्तरित करना।

**६. बौद्ध—** चार अर्थ सत्य हैं— १. दुःख २. दुःख समुदाय ३. दुःख—निरोध ४. दुःख—निरोधगामिनी। इस मार्ग का अवलंबन करने से दुःखों से छुटकारा मिल सकता है। बौद्ध—साधना में समाधि भावना (शपथ) का और विपश्यना भावना का विशेष महत्व है। विपश्यना के चार प्रकार हैं— १. काय २. वेदना ३. चित्त और ४. धर्म—विपश्यना।

**७. ताओ—धर्म—** इस धर्म के संस्थापक लाओत्से ने 'ताओ ते किंग' नामक ग्रंथ लिखा। ताओ का अर्थ विश्व का मार्ग और स्वदर्शन है। तेह का अर्थ प्रेम, जीवन, प्रकाश, संकल्प, सद्गुण है। इसके आचरण से आत्मसाक्षात्कार किया जा सकता है। इस धर्म की साधना—पद्धति का मूलाधार प्रेम और नम्रता ही है।

**८. कन्फ्यूशियस—धर्म—** मानवीय—जीवन की वृत्तियों को नियंत्रण के लिए चीन में लाओत्से ने अपने धर्म की स्थापना की। उन्होंने सद्गुणों को आधार बनाया।

**९. पारसी—धर्म—** सामाजिक—जीवन को नियंत्रित करने का यह एक स्वरूप है। धार्मिक—आचरण कर्मकाण्ड से बंधा नहीं है। इस धर्म में अग्निदेव की ज्योति को आधार लेकर दया, दान, न्याय, नीति इत्यादि की प्रस्थापना और मनुष्य के दस कर्तव्य बताए गए हैं। मनुष्य को निंदा, क्रोध, चिंता, ईर्ष्या, आलस्य इत्यादि का त्याग करना चाहिए।

**१०. यहूदी—धर्म—** इसका मूल ग्रन्थ 'पुरानी बाइबिल' है।

उसके तीन विभाग हैं— १. तोरा— इसमें दस आज्ञा का प्रतिपादन किया गया है। २. नवी— इसमें साधना, प्रेम और अहिंसा का स्वरूप है। ३. नविश्ते— इसमें जीवन का आदर्श स्पष्ट किया गया है। यहूदी—धर्म की स्थापना प्रेमयोग पर आधारित है।

**११. ईसाई—धर्म—** ईसाई—धर्म का उद्गम यहूदी—धर्म है। ईसाइयों का धर्मग्रंथ भी बाइबिल है। उसके दो भाग हैं— १. पुरातन सुसमाचार (Old Testament) २. नूतन सुसमाचार (New Testament)। पुरातन सुसमाचार संपूर्ण बाइबिल का तीन चौथाई भाग है और नूतन सुसमाचार ईसाई—धर्म का मूल ग्रंथ है। इसमें ईसा के जीवन और उपदेशों का संकलन है। ईसाई—धर्म नैतिकता पर आधारित है। इसके अनुसार प्रेम की साधना से ईश्वर को प्राप्त किया जा सकता है।

**१२. इस्लाम—धर्म—** 'कुरान' इसका आधार है। इसे 'कुरान शरीफ' भी कहते हैं। इसमें पांच मौलिक साधना—सूत्र हैं— १. अल्लाह में विश्वास २. फरिश्ते में विश्वास ३. कुरान में विश्वास ४. देवदूतों में विश्वास ५. निर्णय दिन, स्वर्ग, नरक में विश्वास। यह धर्म पुनर्जन्म को नहीं मानता। इसमें साधना—पद्धति के सूत्रधार निम्न हैं—

१. मत का उच्चारण— अल्लाह के सिवाय कोई ईश्वर नहीं।

२. नमाज पढ़ना— वजू की विधि, शरीर का शुद्धिकरण।

३. जकात— आय का एक अंश दान करना।

४. रमजान के महीने में उपवास करना।

५. हज करना— पापों का प्रायश्चित्त, दान, दानी की संगति, मक्का—यात्रा, शरीर—शुद्धि आदि पद्धतियों के द्वारा अल्लाह की प्राप्ति हेतु साधना करना।

## ध्यान के सहायक अंग

**स्वाध्याय** — 'स्व' का अभ्यास, यानी स्वाध्याय। ध्यान में एक विषय होता है। स्वाध्याय—यह ध्यान का प्रारंभ—बिंदु है। जिसे 'स्व' का ज्ञान नहीं, वह ध्यान में प्रवेश नहीं कर सकता।

जप में शब्दों का उच्चारण होता है। वह उच्चारण कभी जोर से, तो कभी मन में होता है। जब भी कभी खुले में दीपक जलाया जाता है, तब उसकी लौ मन की चंचलता की तरह हिलती है, अस्थिर होती है, परंतु जब दीपक कमरे के अंदर ले जाया जाता है, तो वह ज्योति स्थिर हो जाती है, यही ध्यान की अवस्था है। जब दीपक बुझता है, तब वह निरोधात्मक—ध्यान होता है। इस अवस्था में मन का अस्तित्व ही खत्म हो जाता है।

**समाधि**— यह ध्यान की उच्चतम अवस्था है। ध्यान और आहार का घनिष्ठ संबंध है। तामसिक और राजसिक—आहार से जाग्रति नहीं रहती, परंतु सात्विक—आहार ध्यान में सहायक बनता है। थोड़ा कम खाना, कम बोलना, मौन रहना फायदेमंद होगा। पेट में वायुदोष—निर्माण न हो, इसलिए आहार की सावधानी रखें। तली हुई चीजें, गरम मसाले, चाय, कॉफी का सेवन अल्प रहे। दूध, दही आदि से कामवासना बढ़ती है, इस कारण इनका अति अल्प मात्रा में सेवन हो।

**पूर्व व उत्तर**—दिशा ध्यान के लिए योग्य है। पूर्व देवता की तथा उत्तर मनुष्य की दिशा मानी गई है।

ब्रह्ममुहूर्त में किया हुआ ध्यान अधिक सफल होता है। उस समय वातावरण शांत, श्रेष्ठ और स्वच्छ होता है तथा मन भी उत्साहित और तरोताजा रहता है। इसी कारण से पूजा, मंत्रविधि आदि का विशेष समय होता है।

आसन से मन प्रसन्न होता है। योगसूत्र में आसन के अनेक प्रकार हैं। कुछ चुने हुए आसन ध्यानपूर्वक करें। आसन से स्थैर्य, निराकुलता, लोच प्राप्त होती है। आसन बहुत सुखकारी है। अधिक समय तक बिना हिले—डुले बैठें। मुद्रा भी ध्यान में सहायक है, क्योंकि वह शरीर पर नियंत्रण करती है। आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं कि आहार—विजय, निद्रा—विजय व आसन—विजय साधक को मदद करते हैं। आसन करते समय शुद्ध हवा में बैठें, श्वास दीर्घ व मंद रहे, कपड़े ढीले हों। आसनों के अन्त में श्वासन करें। आसन और भोजन में कम—से—कम तीन घंटे का अंतर हो। मौन का अभ्यास ध्यान में बहुत मदद करता है। ध्यान खड़े रहकर भी कर सकते हैं और बैठकर भी। भगवान् बाहुबली ने एक साल तक खड्गासन में ध्यान किया था।

ध्यान के लिए क्षेत्र महत्वपूर्ण है। शांत, पवित्र स्थान ध्यान के लिए योग्य है। परंतु उस क्षेत्र से भी अधिक महत्वपूर्ण है—पवित्र और शुद्ध मन, अर्थात् साधक का मन एक निष्पाप बालक के समान हो।





# ध्यान—मुद्राएँ

## ज्ञान—मुद्रा—

चेतना का एक विशिष्ट गुण है— ज्ञान। ज्ञान ही जीवित और निर्जीव वस्तुओं में अन्तर करता है। ज्ञान जिसमें है, वह जीव है। जिसमें ज्ञान नहीं, वह निर्जीव है। ज्ञान का विकास ही व्यक्ति को सामान्य से विशिष्ट बना देता है। ज्ञान की उपलब्धि के निम्न दो साधन हैं:

१. अभ्यास द्वारा जानकारी का विकास करना।
२. चेतना के अनावरण से ज्ञान उपलब्ध/प्रकट होना।

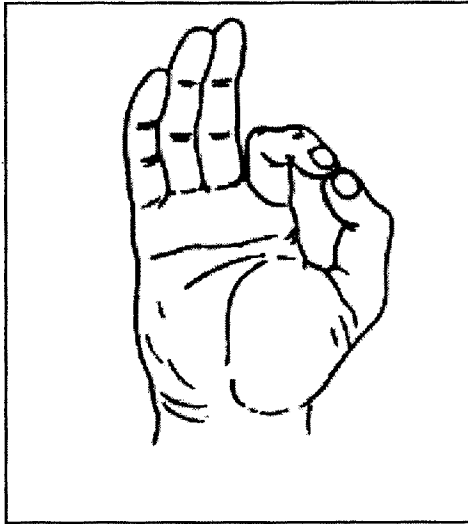
इन्द्रिय और मन से विकसित होने वाला ज्ञान मतिज्ञान कहलाता है। यही ज्ञान जब दूसरों को समझाने की क्षमता वाला हो जाता है, तब श्रुतज्ञान बन जाता है। प्राचीन युग में ज्ञान का विकास सुनकर ही किया जाता था। वेद, आगम, त्रिपिटक आदि सारे ग्रंथ कंठस्थ होते थे। उन्हें सुनकर ही स्मृति—पटल पर अवधारण किया जाता था। उसके पश्चात् जब ज्ञान संकेतों के माध्यम से लिपिबद्ध होने लगा, तब वह श्रुत शास्त्ररूप में पुस्तकारूढ़ हो गया। पुस्तकों में आरूढ़ होने से एक लाभ यह हुआ कि श्रुत की प्रामाणिकता निश्चित हो गई। श्रुत एक—दूसरे तक सुगमता से प्रसारित होने लगा। श्रुत को धारण करने के लिए बाल—वय से ही पराक्रम करना होता था।

योग्य व्यक्तियों को उसके लिए नियुक्त किया जाता था। समय के साथ श्रुत—ग्रहण धारण की यह पद्धति कमजोर हो गई। परिणामतः, स्मृति की दुर्बलता भी होने लगी। स्मृति और ज्ञान को विकसित करने के लिए जिस मुद्रा का प्रयोग किया जाता है,

उसका नाम है ज्ञान मुद्रा। उसे 'चिन्मय—मुद्रा' भी कहा जाता है।

**विधि —**

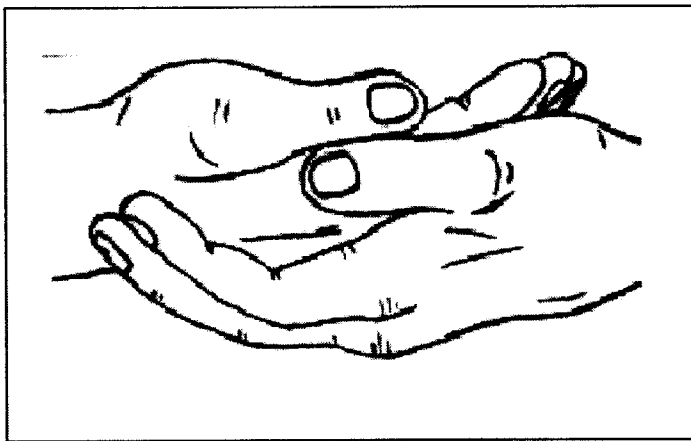
दोनों हाथों को घुटनों पर रखें, अंगूठे के पास वाली तर्जनी अंगुली के ऊपर वाले पोर से मिलाएं। हल्का—सा दबाव दें। शेष तीनों अंगुलियां परस्पर सटी हुई सीधी रहेंगी। अँगूठे और तर्जनी के मिलने से जो हाथ की आकृति बनती है, वही ज्ञान—मुद्रा है। ध्यान करते समय सर्वाधिक उपयोग ज्ञान—मुद्रा का किया जाता है। ज्ञान—मुद्रा चित्रानुसार बनाएं।



**ज्ञान—मुद्रा**

## वीतराग—मुद्रा—

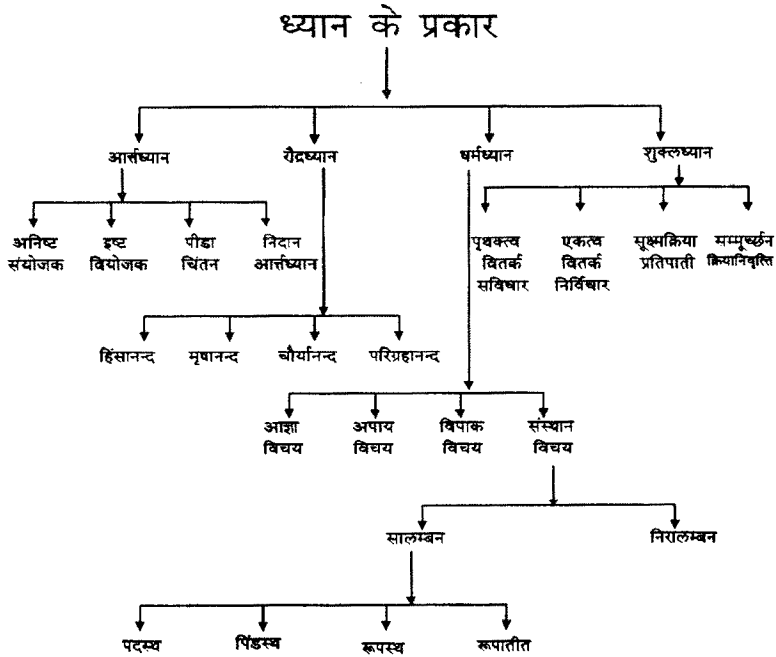
यह चेतना की शुद्ध अवस्था है। ज्ञान के द्वारा चेतना का बोध या अनुभव होता है। प्रियता और प्रियता के आरोपण से ज्ञान विकृत बन जाता है, वह विशुद्ध नहीं रहता। वैसी स्थिति में वह बन्धन का निमित्त बनता है। बन्धन—मुक्ति के लिए वीतराग—मुद्रा उपयोगी है। प्रेक्षाध्यान की तैयारी के समय आसन के पश्चात् मुद्रा बनाई जाती है। 'जैसी मुद्रा, वैसा भाव, जैसा भाव, वैसी मुद्रा' के सिद्धान्त के अनुसार वीतराग—मुद्रा का अभ्यास किया जाता है। वीतराग—मुद्रा को ब्रह्म—मुद्रा भी कहा जाता है। इसके अभ्यास से वीतराग—भाव का क्रमशः विकास होने लगता है। इस मुद्रा का उपयोग ध्यान में किया जाता है।



वीतराग—मुद्रा

# ध्यान के प्रकार

सामान्यतः, ध्यान के प्रशस्त और अप्रशस्त— दो भेद बतलाए हैं। अप्रशस्त—ध्यान के दो भेद हैं— आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान। ये दोनों ध्यान नरक और तिर्यच—गति के कारण हैं, संसार को बढ़ाने के हेतु हैं, इसीलिए ये अप्रशस्त होने से हेय हैं। प्रशस्त—ध्यान के दो भेद हैं— धर्म्यध्यान और शुक्लध्यान। ये स्वर्ग और मोक्ष के कारण हैं, संसार को अल्प करने के हेतु होने से प्रशस्त और उपादेय हैं। यहाँ पर विषय प्रशस्त—ध्यान का है। अप्रशस्त—ध्यान जीवों को अत्यन्त दुःख देने वाला और अनन्त संसार का कारण होता है। अप्रशस्त—ध्यान में पहला आर्त्तध्यान है, इसके चार भेद हैं।



## अप्रशस्त—ध्यान

**आर्त्तध्यान—** पीड़ा, दुःख जिससे उत्पन्न हो, वह आर्त्तध्यान है। जिस प्रकार दिशाशूल होने से पुरुष को उन्मत्तता होती है, उसी प्रकार यह ध्यान मिथ्या, वासना एवं कुविद्या के संस्कार से उत्पन्न होता है।

### १. अनिष्ट—संयोजक आर्त्तध्यान—

पहला आर्त्तध्यान अनिष्ट पदार्थों के संयोग से होता है। अनिच्छित पीड़ाकारक वस्तु के संयोग होने से उस कष्टदायक पदार्थ को दूर करने, परिहार करने के लिए मन में जो आकुलता होती है, वह अनिष्ट—संयोजक नामक अप्रशस्त पहला आर्त्तध्यान है।

### २. इष्ट—वियोजक आर्त्तध्यान—

इष्ट पदार्थ के वियोग होने पर उस निमित्त से वस्तु को पाने के लिए जो एकाग्र चित्तवृत्ति होती है, वह इष्ट—वियोजक नामक अप्रशस्त दूसरा आर्त्तध्यान है।

### ३. पीड़ा—चिंतन आर्त्तध्यान —

शारीरिक—रोग, वेदना से उत्पन्न होने वाला वह ध्यान जिसमें रोग होने पर उसे दूर करने की बार—बार इच्छा हो, आकुलता हो, वह पीड़ा—चिंतन नामक अप्रशस्त तीसरा आर्त्तध्यान है।

### ४. निदान—आर्त्तध्यान —

भविष्य में इच्छित भोगों की प्राप्ति की कामना से पंचेन्द्रिय विषय—भोगों की अभिलाषा होना निदान नामक अप्रशस्त चौथा आर्त्तध्यान है। आर्त्तध्यान आत्मा के समत्व गुणों का नाश कर जीव को अशांत कर देता है।

## रौद्रध्यान

रुद्र का अर्थ क्रूर आशय है। हिंसा आदि पापकार्य करके

गर्वपूर्वक डींग मारते रहने का भाव रौद्रध्यान है।

## १. हिंसानन्द रौद्रध्यान —

जीवों के समूह को अपने से तथा अन्य के द्वारा मारे जाने पर, पीड़ित किए जाने पर तथा ध्वंस करने पर और घातने के संबंध मिलाए जाने पर जो हर्ष माना जाए, उसे पहला हिंसानन्द नामक अप्रशस्त रौद्रध्यान कहते हैं। निरंतर निर्दय स्वभाव वाले तथा स्वभाव से क्रोध—कषाय से प्रज्वलित व मद से उन्मत्त, पाप—बुद्धि वाले कुशील व व्यभिचाररूप पाप में प्रवृत्त नास्तिकों को यह रौद्रध्यान होता है। इस जगह जीवों का घात किस उपाय से हो? यहाँ जीव—हिंसा करने में कौन समर्थ है? ये जीव कितने दिनों में मारे जाएंगे? जीव—हिंसा में किसका अनुराग है? जीवों को मारकर, बलि देकर कीर्ति और शांति के लिए ब्राह्मण, गुरु और देवों की पूजा करना है — इस प्रकार से जीवों की हिंसा में आनन्द मानने वाले व्यक्ति को यह हिंसानन्द नामक अप्रशस्त रौद्र—ध्यान होता है।

## २. मृषानन्द रौद्रध्यान —

मनुष्य असत्य या झूठी कल्पनाओं के समूह से पापरूपी मैल से मलिन चित्त होकर झूठ बोलने में रुचिपूर्वक जो कुछ चेष्टा करता है, उसे मृषानन्द नामक अप्रशस्त दूसरा रौद्रध्यान कहा गया है। मैं अदोषियों में दोषों को सिद्ध करके अपने असत्य सामर्थ्य के प्रभाव से दुश्मनों का राजा आदि के द्वारा घात करवाऊँगा और असत् प्रयोगों से अन्य जनों को प्रताड़ित करवाऊँगा, इस प्रकार से सोचने वाले को मृषानन्द रौद्रध्यान होता है।

## ३. चौर्यानन्द रौद्रध्यान —

जो चित्त चतुरता एवं चोरी के कार्यों में ही तत्पर रहता हो

उसे चौर्यानन्द नामक अप्रशस्त तीसरा रौद्रध्यान कहते हैं। यह चोरी में, चोरी करने में, चोरी करवाने में तथा चोरी का सामान खरीदने वाले व्यक्ति को होता है।

#### ४. परिग्रह—संरक्षणानन्द रौद्रध्यान —

यह चौथा रौद्रध्यान सबका मुखिया है। विषयों या काम्य अथवा प्रिय वस्तुओं को जुटाने एवं उनकी रक्षा करने में व परिग्रह की लिप्सा में आनन्द मानने को परिग्रह संरक्षणानन्द नामक रौद्रध्यान कहते हैं।

रौद्रध्यान के होने से जीवों के परिणामों की सहजता मिटकर रौद्रता आती है, जिसके कारण वह पाप और अनैतिकता में डूब जाता है और परिणामतः इस जन्म और परवर्ती जन्मों में दुःख उठाता है। अप्रशस्त—ध्यान का गीता में मार्मिक चित्र प्रस्तुत किया गया है। उसके अनुसार विषयों का ध्यान करने से क्रमशः राग, कामना, क्रोध, मोह, स्मृति का नाश, बुद्धिनाश और सर्वनाश तक हो जाता है। कषाय, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि से आर्त्त और रौद्रध्यान होते हैं। इनसे जीवन में लांछित, अपमानित और उद्विग्न होना पड़ता है। मनुष्य इनके प्रभाव से सदा शंकित और भयभीत बना रहता है। दुश्चिन्ताओं के कारण उसे रात में नींद नहीं आती और शरीर में नाना प्रकार के रोग लगकर उसे गलाते—जलाते रहते हैं, इसलिए इन दुर्ध्यानों का निषेध किया गया है।

#### (ब) प्रशस्तध्यान —

प्रशस्तध्यान के भी दो भेद हैं — धर्मध्यान और शुक्लध्यान।

ये दोनों संसार की संतति को अल्प कर, स्वर्ग व मोक्ष के हेतु हैं। धर्मध्यान के लिए मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ भावनाएँ आवश्यक हैं। इनसे जीवों में परस्पर मित्रता होती है,

गुणों में अभिरुचि होती है, दुःखी जीवों के प्रति करुणा, सेवा की भावना जागती है, विपत्तियों अथवा विरोधियों के प्रति माध्यस्थता, उपदेश अथवा रागद्वेषरहित उदासीनता की भावना होती है। धर्मध्यान से उद्वेगरहित शांति की उपलब्धि होती है और जीव आत्मलाभ की दिशा में आगे बढ़ने लगता है, जिससे उसे आत्म—आनंद की दशा प्राप्त हो जाती है। यहीं से जीवन—मुक्ति, ब्रह्मस्थिति और समाधि का आरंभ होता है। धर्मध्यान वाला जीव विषयों के मोह से छूटकर अतीन्द्रिय सुख को प्राप्त कर लेता है।

## धर्मध्यान के भेद—

धर्मध्यान के आगम की दृष्टि से चार भेद व अध्यात्म की दृष्टि से दस भेद हैं।

विवेकपूर्वक विचार करना विचय कहलाता है। विचय शब्द विचार करने के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। आज्ञा आदि के विषय में विवेकपूर्वक समझकर एकाग्रता से चिन्तन करना धर्म ध्यान है। इसके चार भेद इस प्रकार हैं—

(१) आज्ञाविचय (२) अपायविचय (३) विपाकविचय और (४) संस्थानविचय।

## १ . आज्ञाविचय —

इसमें सर्वज्ञ आप्त तीर्थकरों की आज्ञा अथवा द्वादशांग श्रुत—ज्ञान के द्वारा पदार्थों के सही स्वरूप का सम्यक् प्रकार से चिन्तन किया जाता है। मति की दुर्बलता से, अध्यात्म—विद्या के जानकार आचार्यों का विरह होने से, ज्ञेय की गहनता होने से, ज्ञान को आवरण करने वाले कर्म की तीव्रता होने से, हेतु, युक्ति व तर्क तथा उदाहरण संभव न होने से “सर्वज्ञ प्रतिपादित मत सत्य है”— ऐसा चिन्तन करने को आज्ञाविचय—धर्मध्यान कहा है।



## २. अपायविचय—

कर्मों के नाश के उपाय का विचार करना अपायविचय—धर्मध्यान है। इसका मुख्य साधन अप्रमत्त सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र की त्रिकुटि अथवा रत्नत्रय है। इसमें कर्मास्रव को रोकने के उपायों का चिंतन किया जाता है, अर्थात् नए कर्म किसी उपाय से न बँधें व जो बँध गए हैं, वे कैसे छूटें—इसका विचार इस धर्मध्यान में किया जाता है।

## ३. विपाकविचय—

कर्मों के फल का उदय विपाक कहा जाता है। इस ध्यान में साधक यह विचार करता है कि अपने पूर्व कर्म ही उदय में आने पर द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव का आश्रय पाकर ज्ञान, दर्शन को आवरित कर अथवा अपरिष्कृत कर नाना प्रकार के अशुभ व शुभ फल देते हैं। इस ध्यान से चित्त शुद्ध होता है और जीव कर्मों के नाश का उपाय करने की दिशा प्राप्त करता है।

## ४. संस्थानविचय—

इस ध्यान में ऊर्ध्व, मध्य व अधोलोक का चिंतन किया जाता है। किन—किन कर्मों के उदय से किन—किन लोकों, पर्यायों, परिस्थितियों आदि की प्राप्ति होती है और उनसे छूटने का क्या उपाय है, आदि बातों का विचार इस ध्यान की परिधि अथवा सीमा में आता है।

अध्यात्म की अपेक्षा से धर्मध्यान के भेद निम्न हैं—

- (१) अपायविचय (२) उपायविचय (३) जीवविचय (४) अजीवविचय (५) विपाकविचय (६) विरागविचय (७) भवविचय (८) संस्थानविचय (९) आज्ञाविचय (१०) हेतुविचय

आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय और संस्थानविचय का कथन हो चुका है।

## ५. उपायविचय —

धर्मध्यान में पुण्यरूप योग प्रकृतियों को अपने अधीन करना या ये पुण्य प्रकृतियाँ मेरे अधीन कैसे हो सकती हैं, इस प्रकार के संकल्पों की संतति को (विचारधाराओं को) उपाय—विचय—धर्मध्यान कहा गया है।

## ६. जीवविचय —

द्रव्यदृष्टि से जीव अनादिनिधन है। पर्यायदृष्टि से जीव सनिधन है, अंसख्यातप्रदेशी है, ज्ञान और दर्शनरूप उपयोग—लक्षण वाला है, शरीररूपी अचेतन उपकरण से युक्त है और अपने द्वारा किए गए कर्म के फल को भोगता है। इस रूप से जीव का जो ध्यान किया जाता है, वह जीवविचय—धर्मध्यान है।

## ७. अजीवविचय—

धर्म, अधर्म, आकाश, काल और पुद्गल—इन पाँच अचेतन द्रव्यों के स्वभाव का बार—बार चिंतन करना अजीवविचय—धर्मध्यान है।

## ८. विरागविचय—

शरीर अपवित्र है। भोग किंपाक—फल के समान सुन्दर और उपभोग के पश्चात् दुःखदायी हैं। संसार, शरीर और भोगों से सताए मानव को सुख—शांति नहीं मिलती। वस्तुतः, अशुचि भावनाओं का बार—बार चिंतन करते हुए आत्मीय वैराग्य को दृढ़ व स्थिर बनाना विरागविचय—धर्मध्यान है।

## ९. भवविचय —

चारों गतियों में भ्रमण करने वाले इन जीवों को मरने के बाद जो पर्याय होती है, वह भव है और वह दुःखरूप है। इस प्रकार की निरंतर वैकल्पिक संतति को भवविचय—धर्मध्यान कहा गया है।

## १०. हेतुविचय—

तर्क और युक्ति का अवलंबन करते हुए स्याद्वादरूप शैली का आश्रय लेकर तत्त्व—चिंतन करने को हेतुविचय कहा गया है।

### संस्थानविचय—धर्मध्यान के दो प्रकार हैं—

(१) सालम्बन — आलम्बन सहित (२) निरालम्बन — आलम्बन रहित।

सालम्बन ध्यान के चार प्रकार हैं — (१) पदस्थ (२) पिण्डस्थ (३) रूपस्थ (४) रूपातीत।

(१) पदस्थ — पदस्थ—ध्यान में मंत्र—वाक्य के आलम्बन से होने वाली एकाग्रता होती है।

(२) पिण्डस्थ — पिण्डस्थ—ध्यान में पिण्ड के आलम्बन से शरीरगत आत्मा का चिंतन किया जाता है।

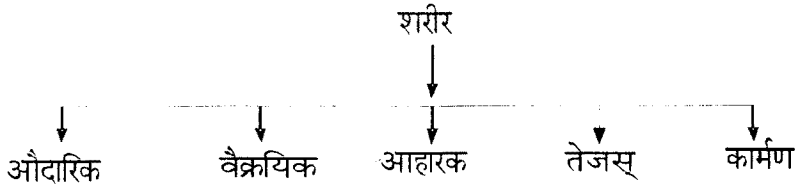
(३) रूपस्थ — रूपस्थ—ध्यान में समवशरण में स्थित अरिहंत का ध्यान किया जाता है।

(४) रूपातीत — रूपातीत—ध्यान में अरूपी सिद्ध परमात्मा का ध्यान किया जाता है। 'मैं शुद्ध हूँ'—इसका ध्यान किया जाता है।

### पिण्डस्थ—ध्यान —

पिण्डस्थ—ध्यान में शरीर के अवयवों का आलम्बन लिया जाता है। आत्मा और शरीर में एकत्व नहीं है, किंतु उनका संयोग है। आत्मा चेतन है और शरीर अचेतन, अतः आत्मा और शरीर स्वरूप की दृष्टि से भिन्न हैं। शरीर आत्मा की अभिव्यक्ति और प्रवृत्ति में सहयोग करता है, इसलिए उसमें सर्वथा भेद भी नहीं है। इस दृष्टि से शरीर और आत्मा न केवल चेतन और न केवल अचेतन हैं, किन्तु चेतन और अचेतन का

संयोग है। प्राणशक्ति, भाषा, इन्द्रिय और चिंतन—ये न चेतन के लक्षण हैं और न अचेतन के, किन्तु चेतन और अचेतन समन्वित अवस्था के लक्षण हैं। आत्मा की ज्ञानात्मक शक्ति और शरीर का पौद्गलिक—सहयोग—ये दोनों मिलकर शरीर और आत्मा के अस्तित्व को प्रकट करते हैं।



**शरीर के पाँच प्रकार हैं—**

- (१) **औदारिक**— यह अस्थि—माँसमय स्थूल शरीर है।
- (२) **वैक्रयिक**— यह अस्थि—माँसरहित स्थूल शरीर है। यह शरीर देवगति तथा नरकगति जीव को प्राप्त होता है।
- (३) **आहारक**— यह योगज शरीर है। इसे एक स्थान से दूसरे स्थान में प्रेषित किया जा सकता है। यह सूक्ष्म शरीर है। यह मात्र मुनियों को ही होता है।
- (४) **तेजस्**— यह विद्युत्—शरीर है। यह तेज, कांति देता है।
- (५) **कर्मण**— यह मूल शरीर या संस्कार—शरीर है। यह संसार एवं कर्मों के उत्पन्न होने का मूल कारण है।

जब चैतन्य का विस्तार बाह्य—जगत् की ओर होता है, तब उसकी गति सूक्ष्म से स्थूल की ओर होती है और जब अन्तर—जगत् की ओर होता है, तब स्थूल से सूक्ष्मता की ओर होती है। स्थूल शरीर भवान्तरगामी नहीं होते हैं। उनमें भी

भवान्तर—गमन के संस्कार कार्मण—शरीर में संचित रहते हैं। इस दृष्टि से यह संस्कार—शरीर भी है।

आत्मा का सबसे निकट संपर्क कार्मण—शरीर से है। आत्मा के चैतन्य और वीर्य सर्वप्रथम इसी में संक्रान्त होते हैं। तेजस्—शरीर उन्हें स्थूल शरीर तक पहुँचाता है और स्थूल शरीर के द्वारा वे अभिव्यक्त होते हैं। इस प्रकार आत्मा के चैतन्य और वीर्य कार्मण—शरीर, तेजस्—शरीर और स्थूल शरीर की क्रमिक प्रक्रिया से बाह्यजगत् तक पहुँचते हैं। बाह्यजगत् का प्रभाव सर्वप्रथम स्थूल शरीर पर होता है। उसे तेजस्—शरीर, कार्मण—शरीर तक ले जाता है और कार्मण—शरीर के माध्यम से वह आत्मा तक पहुँचता है। इस प्रकार तेजस्—शरीर प्रेषण के माध्यम का काम करता है। योग के आचार्यों ने तेजोमय आत्मा की परिकल्पना की है। आत्मा की तेजोमयता की परिकल्पना का निमित्त यह तेजस्—शरीर ही है। कार्मण और तेजस्—शरीर सूक्ष्म शरीर हैं, इसलिए उनके अवयव नहीं हैं, वे अवयवविहीन शरीर हैं। वे स्थूल शरीर के अवयवों में परिव्याप्त हैं। साधारणतया, समूचे शरीर में परिव्याप्त हैं, किन्तु शरीर के कुछ भागों में वे विशेष रूप से केन्द्रित हैं। ये केन्द्रित भाग चैतन्य कि अभिव्यक्ति के मुख्य केन्द्र हैं। पिण्डस्थ—ध्यान में इन्हीं केन्द्रों पर मन को एकाग्र किया जाता है।

चैतन्य की अभिव्यक्ति के १० शारीरिक—केन्द्र हैं।

(१) सिर (२) भ्रू (३) तालु (४) ललाट (५) मुँह (६) कान (७) नासाग्र (८) कण्ठ (९) हृदय (१०) नाभि।

इन केन्द्रों पर ध्यान करने से मन की एकाग्रता सरलता से सधती है, आंतरिक ज्ञान विकसित होता है। पिण्डस्थ स्थान में चक्रों का भी आलम्बन लिया जाता है। चित्त को किसी निश्चित

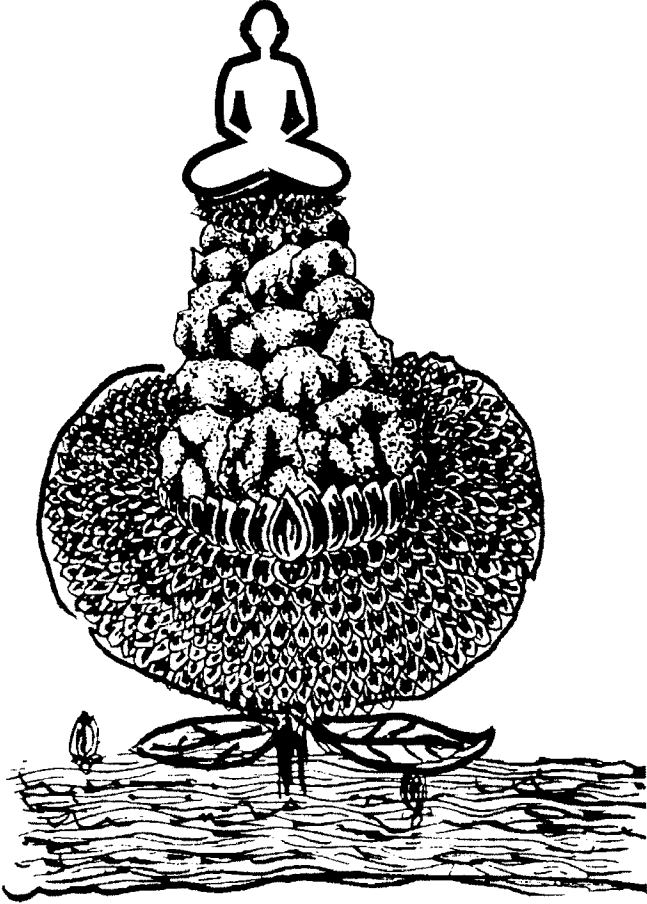
देश में स्थिर करना धारणा है। धारणा शरीर या उससे भिन्न अन्य वस्तुओं पर की जा सकती है। देहातीत धारणाएं पिण्डस्थ स्थान की कोटि में समाविष्ट हैं।

**धारणा के पाँच प्रकार हैं —**

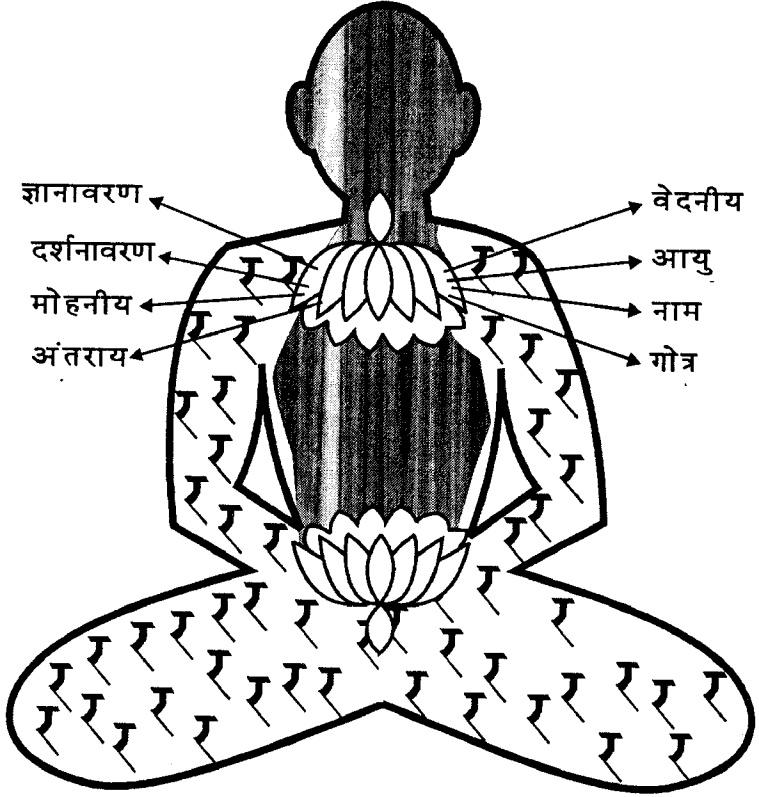
- (१) पार्थिवी—धारणा
- (२) आग्नेयी—धारणा
- (३) मारूति—धारणा
- (४) वारूणी—धारणा
- (५) तत्त्व—रूपवती—धारणा

इनका संबंध पार्थिवी, तेजस्, वायुवीय और जलीय—तत्त्वों से है। साधक ध्यान करने के लिए किसी एक सुखासन से बैठे और यदि उसे देहिक—धारणाओं के द्वारा पिण्डस्थ—ध्यान का अभ्यास करना हो, तो वह सर्वप्रथम किसी विशाल और निर्मल स्थान पर आसन लगाकर बैठने की अनुभूति करे। उस अनुभूति को इतना पुष्ट बनाए कि उसे प्राप्त अनुभूति में तन्मयता हो जाए।

# पार्थिवी—धारणा

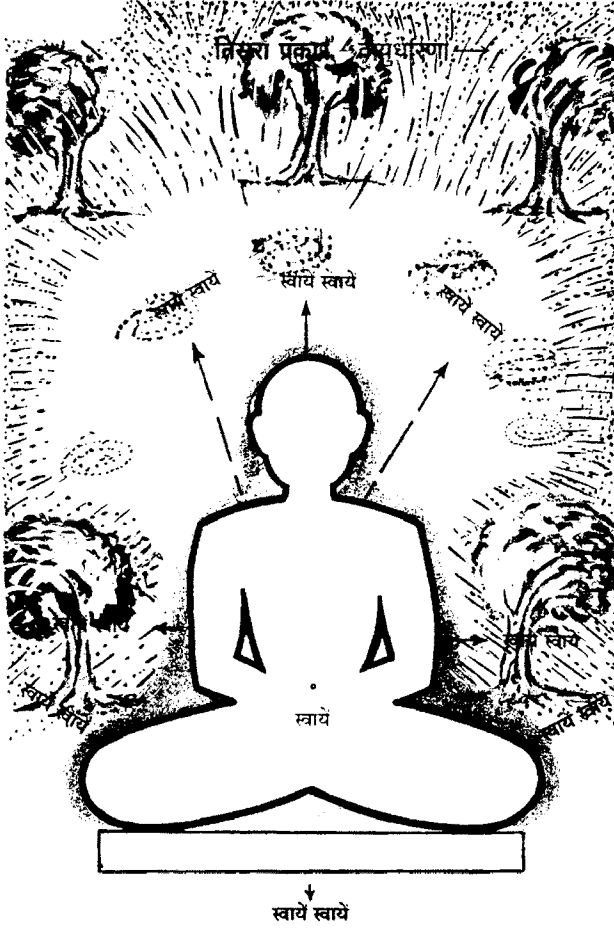


# आग्नेयी—धारणा

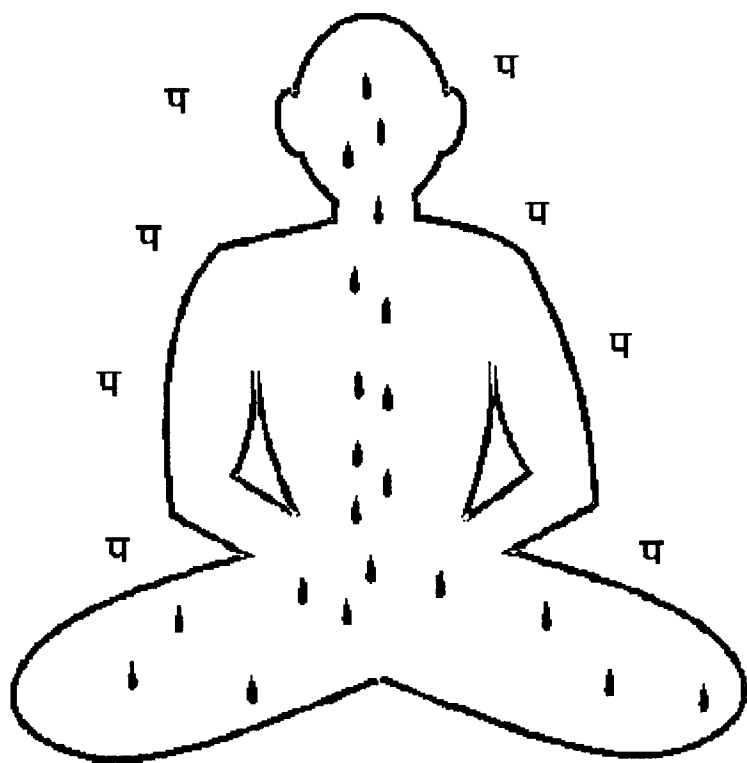




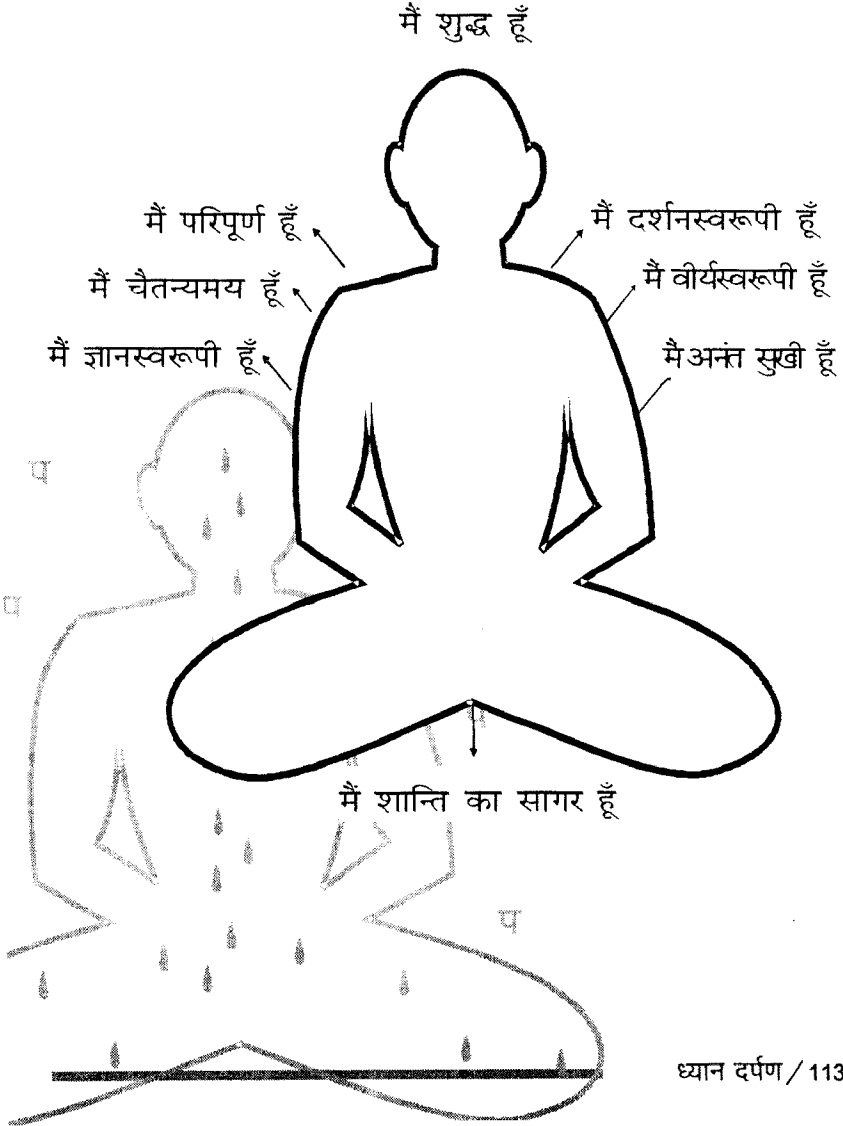
# मारूति—धारणा



# वारूणी—धारणा



# तत्त्व—रूपवती—धारणा



## १. पार्थिवी—धारणा —

साधक निश्चल सुखासन में बैठकर चिंतन करे कि यह मध्यलोक निस्तरंग, शब्दरहित, बर्फ के समान स्वच्छ सफेद क्षीरसमुद्र है। उस क्षीरसमुद्र के बीच में स्वर्ण के समान प्रभावाला एक सहस्रदल कमल है। वह कमल केशर की पंक्ति से सुशोभित है तथा जम्बूद्वीप के समान एक लाख योजन विस्तार वाला है—ऐसा चिंतन करे। ठीक इसके बीच में सुमेरु—पर्वत के समान एक पीला मेरु पर्वत है। कमल के ऊपर एक कमल—कर्णिका है। उस कर्णिका के ऊपर शरद—ऋतु के चन्द्रमा के समान श्वेत रंग का एक सिंहासन है। उस सिंहासन पर मेरी आत्मा विराजमान है और चिंतन करे कि मेरी आत्मा राग—द्वेष से रहित, द्रव्यकर्म, भावकर्म तथा नोकर्मों के समूह को नष्ट करने में समर्थ है। इस तरह साधक अपने पार्थिव शरीर में असीम शक्ति का अनुचिंतन करे। यह धारणा की पहली कक्षा पार्थिवी—धारणा है। (देखिए चित्र : पार्थिवी—धारणा)

## २. आग्नेयी—धारणा—

इस धारणा में साधक चिंतन करे कि मेरे नाभिमंडल में १६ पाँखुड़ियों का एक सुंदर कमल है। उस कमल की १६ पाँखुड़ियों पर क्रम से अ,आ,इ,ई,उ,ऊ,ऋ,ॠ,लृ,लृ,ए, ऐ,ओ,औ,अं,अः ये सोलह बीजाक्षर हैं।

## ३. मारूति—धारणा—

मेरे चारों तरफ स्वायें नाम का पवन जोर से बह रहा है। अग्नि के कारण मेरा शरीर तथा आठ कर्म, भावकर्म, नोकर्म जल गए हैं। उनकी जो प्रचंड राख है, वह पवन से उड़ गई है।

## ४. वारूणी—धारणा —

आकाश में घने बादल फैले हुए हैं। उन पर 'पपप' शब्द लिखे हैं। बिजली जोर से चमक रही है और बरसात हो रही है। उस बरसात के कारण जो भी शरीर या आठ कर्मों की राख हुई थी, वह उड़ गई है। अब मैं निर्मल हो गया हूँ, पवित्र हूँ।

## ५. तत्त्वरूपवती—धारणा—

इस धारणा में साधक सभी कर्मों से मुक्त हो गया है। मैं शुद्ध हूँ, अकेला हूँ, मैं सिद्धि हूँ— इस धारणा में वह रहता है। मैं अनंत ज्ञानस्वरूप, अनंत दर्शनस्वरूप, अनंत सुखस्वरूप, अनंत शक्तिस्वरूप हूँ। मैं नित्य हूँ, सूक्ष्म हूँ।

## शुक्लध्यान —

यह ध्यान आज संभव नहीं है, क्योंकि यह सिर्फ श्रुतकेवली और संयोगी—केवली तथा अयोगी—केवली को होता है। छद्मस्थ—अवस्था में वह संभव नहीं है। यह ध्यान आठवें गुणस्थान से प्रारंभ होता है। इसके चार भेद हैं— १) पृथक्त्व—वितर्कविचार २) एकत्व—वितर्कविचार ३) सूक्ष्मक्रिया—प्रतिपाति ४) समूर्च्छन—क्रियानिवृत्ति।

इस प्रकार जैन—आगम में ध्यान के चार भेद वर्णित हैं।

●

# प्रेक्षाध्यान

## आधार और स्वरूप —

‘प्रेक्षा’ शब्द ‘ईक्ष्’ धातु से बना है। इसका अर्थ है — देखना।

प्र + ईक्षा = प्रेक्षा, इसका अर्थ है — गहराई में उतरकर देखना।

“संपिक्खए अप्पगमप्पएणं” — आत्मा के द्वारा आत्मा की संप्रेक्षा करो। मन के द्वारा सूक्ष्म मन को देखो, स्थूल चेतना के द्वारा सूक्ष्म चेतना को देखो। ‘देखना’ ध्यान का मूल तत्त्व है, इसलिए इस ध्यान—पद्धति का नाम ‘प्रेक्षा—ध्यान’ रखा गया है।

जानना और देखना चेतना का लक्षण है। आवृत्त चेतना में जानने और देखने की क्षमता क्षीण हो जाती है। उस क्षमता को विकसित करने का प्रमुख सूत्र है— ‘जानो और देखो’। ‘चिन्तन, विचार या पर्यालोचन करो’— यह बहुत गौण और बहुत प्रारम्भिक है। यह साधना के क्षेत्र में बहुत आगे नहीं ले जाता।

‘आत्मा के द्वारा आत्मा को देखो’— यह अध्यात्म—चेतना के जागरण का महत्वपूर्ण सूत्र है। इस सूत्र का अभ्यास हम शरीर से प्राप्त करते हैं। आत्मा शरीर में है, इसलिए स्थूल शरीर को देखे बिना आगे नहीं देखा जा सकता। श्वास शरीर का ही एक अंग है। हम श्वास से जीते हैं, इसलिए सर्वप्रथम श्वास को देखें। हम शरीर में जीते हैं, इसलिए शरीर को देखें। शरीर के भीतर होने वाले स्पन्दनों, कम्पनों, हलचलों या घटनाओं को देखें। इन्हें देखते—देखते मन पटु हो जाता है, सूक्ष्म हो जाता है, फिर अनेक सूक्ष्म स्पन्दन दिखने लग जाते हैं। वृत्तियाँ या संस्कार जब उभरते

हैं, तब उनके स्पन्दन स्पष्ट होने लग जाते हैं।

जब हम मन को देखते हैं, तब सोचते नहीं हैं और जब हम सोचते हैं, तब देखते नहीं हैं। विचारों का जो सिलसिला चलता है, उसे रोकने का सबसे अन्तिम साधन है— देखना। आप स्थिर होकर अपने भीतर देखें— अपने विचारों को देखें या शरीर के प्रकंपनों को देखें, तो आप पाएंगे कि विचार स्थगित है और विकल्पशून्य है, तब आप भीतर की गहराइयों को देखते—देखते सूक्ष्म शरीर को देखने लगेंगे। जो भीतरी सत्य को देख लेता है, उसमें बाहरी सत्य को देखने की क्षमता अपने—आप आ जाती है।

देखना वह है, जहाँ केवल चैतन्य सक्रिय होता है। जहां प्रियता और अप्रियता का भाव आ जाए, वहां देखना गौण हो जाता है।

माध्यस्थ या तटस्थता प्रेक्षा का ही दूसरा रूप है। जो देखता है, वह सम रहता है। वह प्रिय के प्रति राग—रंजित नहीं होता और अप्रिय के प्रति द्वेषपूर्ण नहीं होता। वह प्रिय और अप्रिय—दोनों की उपेक्षा करता है।

## एकाग्रता और अप्रमाद (जागरूकता)—

प्रेक्षाध्यान की सफलता एकाग्रता पर निर्भर है। अप्रमाद या जागरूकता का भाव बहुत महत्वपूर्ण है। ध्यान का स्वरूप है—अप्रमाद, चैतन्य का जागरण या सतत जागरूकता। जो जागृत होता है, वही अप्रमत्त होता है। जो अप्रमत्त होता है, वही एकाग्र है। एकाग्रचित्त व्यक्ति ही ध्यान कर सकता है।

अप्रमत्त व्यक्ति को कार्य के बाद उसकी स्मृति नहीं सताती। आदमी जितना काम करता है, उससे अधिक वह स्मृति

में उलझता रहता है। भोजन करते समय भी अनेक बातें याद आती हैं। जिस समय जो काम किया जाता है, उस समय उसी में रहने वाला साधक होता है। जहां शरीर और मन का सामंजस्य स्थापित नहीं हो पाता, वहां विक्षेप, चंचलता और तनाव होते हैं।

एकाग्रता में विचारों को रोकना नहीं होता, अपितु अप्रयत्न का प्रयत्न होता है। प्रयत्न से मन और अधिक चंचल होता है। एकाग्रता तब होती है, जब मन निर्मल होता है। बिना एकाग्रता के निर्मलता नहीं होती और बिना निर्मलता के एकाग्रता नहीं होती।

‘क्षण भर भी प्रमाद मत करो’— यह उपदेश है, पर अभ्यास की कुशलता के बिना कैसे संभव है कि व्यक्ति क्षण भर भी प्रमाद न करे? मन इतना चंचल और मोहग्रस्त है कि मनुष्य क्षण भर भी अप्रमत्त नहीं रह पाता। वह अप्रमाद की साधना क्या है? अप्रमाद के आलंबन क्या हैं, जिनके सहारे कोई भी व्यक्ति अप्रमत्त रह सकता है। प्रेक्षाध्यान अप्रमाद की साधना है।





# प्रेक्षा—ध्यान के अंग

- |                            |                  |
|----------------------------|------------------|
| १. कायोत्सर्ग              | २. अन्तर्यात्रा  |
| ३. श्वास—प्रेक्षा          | ४. शरीर—प्रेक्षा |
| ५. चैतन्य—केन्द्र—प्रेक्षा | ६. लेश्या—ध्यान  |
| ७. भावना                   | ८. अनुप्रेक्षा।  |

## १. कायोत्सर्ग

ध्यान का अर्थ है— प्रवृत्ति का निरोध। प्रवृत्तियां तीन हैं— कायिक, वाचिक और मानसिक। इन तीनों का निरोध करना ध्यान है। फलतः, ध्यान के भी तीन प्रकार हो जाते हैं— कायिक—ध्यान, वाचिक—ध्यान और मानसिक—ध्यान। कायिक— ध्यान ही कायोत्सर्ग है।

कायोत्सर्ग का अर्थ है— शरीर का व्युत्सर्ग और चैतन्य की जाग्रति। प्रयोग में इसका अर्थ है— शरीर की बाह्य स्थूल प्रवृत्तियों का निरोध। सभी ऐच्छिक (कंकालीय) मांसपेशियों की शिथिलता एवं चयापचय जैसी सूक्ष्म आंतरिक क्रियाओं का शिथिलीकरण। इस शारीरिक—स्थिति में मानसिक तनाव का विसर्जन होता है।

कायोत्सर्ग, शरीर की स्थिरता— मानसिक एकाग्रता की पहली शर्त है। चित्त की स्थिरता के लिए शरीर की स्थिरता अनिवार्य है, इसलिए प्रेक्षा—ध्यान का पहला चरण कायोत्सर्ग है, जो सभी प्रकार से किए जाने वाले प्रेक्षा—ध्यान के प्रारंभ में ही किया जाता है।

पूरे शरीर का कायोत्सर्ग करने के बाद स्वरयंत्र का

कायोत्सर्ग करना आवश्यक है। हमारी विचारधारा का उद्गम स्वरयंत्र की चंचलता से होता है। जितनी स्वरयंत्र की चंचलता हो, उतनी ही चित्त की चंचलता होती है। स्वरयंत्र का संपूर्ण शिथिलीकरण करने से अंतमौन की साधना होती है। मन की चंचलता भी अपने—आप समाप्त हो जाती है।

ध्यान के पहले चरण के अतिरिक्त कायोत्सर्ग का अभ्यास स्वतंत्र रूप से दीर्घकाल तक किया जा सकता है। यदि कोई कायोत्सर्ग के प्रयोग की विधि को सीखकर प्रतिदिन इसका नियमित अभ्यास करता रहे, तो वह किसी भी स्थिति में तनाव—मुक्त, शांत और अविचलित रह सकता है।

शरीर में कहीं भी तनाव या अकड़न न रहे, इसके लिए सिर से पैर तक प्रत्येक अवयव पर चित्त को एकाग्र कर स्वतःसूचना द्वारा सारे शरीर की शिथिलता को साधा जाता है। शरीर की प्रत्येक मांसपेशी तथा प्रत्येक स्नायु में इस प्रकार तनावमुक्ति का अनुभव होता है। पूरा शिथिलीकरण सध जाने पर चेतना और शरीर की पृथक्—पृथक् अनुभूति की जाती है, जिससे अनुभूति के स्तर पर (भेद—विज्ञान) का अभ्यास होता है। शारीरिक और मानसिक तनाव से मुक्ति पाने के लिए कायोत्सर्ग का अभ्यास बहुत उपयोगी है। दो घंटे तक सोने से शरीर एवं मांसपेशियों को जो विश्राम नहीं मिलता, उतना विश्राम आधे घंटे तक विधिवत् कायोत्सर्ग करने से मिल जाता है, बल्कि उससे अधिक विश्राम मिलता है। यह अनेक प्रकार की तनाव—जनित मनःकायिक बीमारियों का निर्दोष एवं सक्षम उपाय है।

## २. अन्तर्यात्रा

प्रेक्षा—ध्यान का दूसरा चरण है— अन्तर्यात्रा। हमारे केन्द्रीय नाड़ी—तंत्र का मुख्य स्थान है— सुषुम्ना। सुषुम्ना के नीचे का छोर शक्ति—केन्द्र है, जो ऊर्जा या प्राण—शक्ति का मुख्य केन्द्र

है। अन्तर्यात्रा में चित्त को शक्ति—केन्द्र से सुषुम्ना के मार्ग द्वारा ज्ञान—केन्द्र तक ले जाना होता है। चेतना की इस अन्तर्यात्रा से ऊर्जा का प्रवाह या प्राण की गति ऊर्ध्वगामी होती है। इस यात्रा की अनेक आवृत्तियों से नाड़ी—तन्त्र की प्राण—शक्ति विकसित होती है, जो ध्यानाभ्यास के लिए आवश्यक है।

हमारे चैतन्य का, ज्ञान का केन्द्र है— नाड़ी—संस्थान। यह समूचे शरीर में व्याप्त है, किन्तु पृष्ठरज्जु के निचले सिरे से मस्तिष्क तक का स्थान आत्मा की अभिव्यक्ति का स्थान है। संवेदन, प्रतिसंवेदन, ज्ञान—सारे यहीं से प्रसारित होते हैं। शक्ति का भी यही स्थान है। ज्ञानवाही और क्रियावाही तंतुओं का यही केन्द्रस्थान है। केवल मनुष्य ही ऊर्जा को उर्ध्वगामी कर सकता है। दिशा का परिवर्तन होते ही जो शक्ति नीचे की ओर गमन करती है, वह ऊपर की ओर जाने लगती है।

मस्तिष्क की ऊर्जा का नीचे की ओर जाना भौतिक—जगत् में प्रवेश करना है। कामकेन्द्र की ऊर्जा का ऊपर जाना अध्यात्म—जगत् में प्रवेश करना है। ऊर्जा के नीचे जाने से पौद्गलिक—सुख की अनुभूति होती है। ऊर्जा के ऊपर जाने से अध्यात्म—सुख की अनुभूति होती है। यह केवल दिशा—परिवर्तन का ही परिणाम है।

### ३. श्वास—प्रेक्षा

ध्यानाभ्यास के मौलिक तत्त्वों में से एक है— मन्द श्वास—प्रश्वास। प्राणवायु को धीरे—धीरे ग्रहण करना और धीरे—धीरे छोड़ना दीर्घ—श्वास कहा जाता है।

श्वास शरीर में चलने वाली चयापचय की क्रियाओं का अभिन्न अंग है। श्वास और प्राण, श्वास और मन, अटूट कड़ी के रूप में काम करते हैं। मन को हम सीधा नहीं पकड़ सकते, प्राण की धारा को भी सीधा नहीं पकड़ा जा सकता, किन्तु मन

को पकड़ने के लिए प्राण को पकड़ें और प्राण को पकड़ने के लिए श्वास को पकड़ें। चित्त को एकाग्र करने का एक सरल और सक्षम उपाय है— श्वास—प्रेक्षा। मन की शांत स्थिति या एकाग्रता के लिए श्वास को नियंत्रित करना बहुत जरूरी है। श्वास—विजय या श्वास—नियंत्रण के बिना ध्यान नहीं हो सकता।

हम श्वास लेते समय 'श्वास ले रहे हैं'— इसी का अनुभव करें, वही स्मृति रहे। मन किसी अन्य प्रवृत्ति में न जाए, वह श्वासमय हो जाए, उसके लिए समर्पित हो जाए। श्वास की भाव—क्रिया ही श्वास—प्रेक्षा है। यह नथुनों के भीतर की जा सकती है, श्वास के पूरे गमनागमन पर भी की जा सकती है। श्वास के विभिन्न आयामी और विभिन्न रूपों को देखा जा सकता है।

श्वास—प्रेक्षा के प्रयोग हैं— दीर्घश्वास—प्रेक्षा, समवृत्तिश्वास—प्रेक्षा, सूक्ष्मश्वास—प्रेक्षा आदि।

### दीर्घश्वास—प्रेक्षा

प्रेक्षा—ध्यान का अभ्यास करने वाला सबसे पहले श्वास की गति को बदलता है। वह श्वास को लम्बा, गहरा और लयबद्ध बना देता है। सामान्यतः, आदमी एक मिनट में १५—१७ श्वास लेता है। दीर्घश्वास—प्रेक्षा के अभ्यास से यह संख्या घटाई जा सकती है। साधारण अभ्यास के बाद यह संख्या एक मिनट में १० से कम तक की जा सकती है और विशेष अभ्यास के बाद उसे और अधिक कम किया जा सकता है। श्वास को मन्द या दीर्घ करने के लिए तनुपट की मांसपेशियों का समुचित उपयोग करना आवश्यक है। श्वास छोड़ते समय पेट की मांसपेशियाँ सिकुड़ती हैं और लेते समय वे मिलती हैं।

चल—श्वास को मन्द, दीर्घ या सूक्ष्म करने से मन शान्त होता है। इसके साथ—साथ आवेग शान्त होते हैं, कषाय शान्त होते हैं, उत्तेजनाएं और वासनाएं शान्त होती हैं। श्वास जब छोटा होता है, तब वासनाएं उभरती हैं, उत्तेजनाएं आती हैं, कषाय जाग्रत होते हैं। इन सबसे श्वास प्रभावित होता है। इन सब दोषों का वाहन है—श्वास। जब कभी मालूम पड़े कि उत्तेजना आने वाली है, तब तत्काल श्वास को लम्बा कर दें, दीर्घश्वास लेने लग जाएं, आने वाली उत्तेजना लौट जाएगी। इसका कारण है— श्वास का वाहन उसे उपलब्ध नहीं हो पाना। बिना आलम्बन के कोई उत्तेजना या वासना प्रकट नहीं हो सकती।

### समवृत्तिश्वास—प्रेक्षा

जैसे दीर्घश्वास—प्रेक्षा ध्यान का महत्वपूर्ण तत्त्व है, वैसे ही समवृत्तिश्वास—प्रेक्षा भी उसका महत्वपूर्ण सूत्र है। बाएं नथुने से श्वास लेकर दाएं से निकालना और दाएं नथुने से लेकर बाएं से निकालना— यह समवृत्तिश्वास है। इसे देखना, इसकी प्रेक्षा करना, इसके साथ चित्त का योग करना महत्वपूर्ण बात है। समवृत्तिश्वास—प्रेक्षा के माध्यम से चेतना के विशिष्ट केन्द्रों को जाग्रत किया जा सकता है। इसका सतत अभ्यास अनेक उपलब्धियों में सहायक हो सकता है।

### ४. शरीर—प्रेक्षा

शरीर को समग्र दृष्टि से देखने का अभ्यास शरीर—प्रेक्षा है। शरीर—प्रेक्षा की प्रक्रिया अन्तर्मुख होने की प्रक्रिया है। सामान्यतः, बाहर की ओर प्रवाहित होने वाली चैतन्य की धारा को अन्दर की ओर प्रवाहित करने का प्रथम साधन स्थूल शरीर है। शरीर—प्रेक्षा में पहले शरीर के बाहरी भाग को देखते हैं। फिर शरीर के भीतर मन को ले जाकर भीतरी भाग को देखते हैं।

शरीर के स्थूल और सूक्ष्म स्पंदनों को देखते हैं। शरीर के भीतर जो कुछ है, उसे देखने का प्रयत्न करते हैं।

शरीर—प्रेक्षा का दृढ़ अभ्यास और मन के सुशिक्षित होने पर शरीर में प्रवाहित होने वाली चैतन्यधारा का साक्षात्कार होने लग जाता है तथा साधक स्थूल से सूक्ष्म दर्शन की ओर आगे बढ़ने लगता है।

शरीर के वर्तमान क्षण को देखनेवाला जागरूक हो जाता है। कोई क्षण सुखरूप होता है और कोई क्षण दुःखरूप। क्षण को देखने वाला सुखात्मक क्षण के प्रति राग नहीं करता और दुःखात्मक क्षण के प्रति द्वेष नहीं करता। वह केवल देखता और जानता है।

## ५. चैतन्य—केन्द्र—प्रेक्षा

हमारे शरीर में १३ चैतन्य—केन्द्र हैं, उन पर चित्त को केन्द्रित किया जाता है। प्रेक्षा—ध्यान की साधना का ध्येय है—चित्त की निर्मलता। चित्त को निर्मल बनाने के लिए, हमारी वृत्तियों, भावों या आदतों को विशुद्ध करने के लिए पहले यह समझना जरूरी है कि अशुद्धि कहां जन्म लेती है और कहां प्रकट होती है। यदि हम उस तन्त्र को ठीक समझ लेते हैं, तो उसे शुद्ध करने की बात में बड़ी सुविधा हो जाती है।

वर्तमान विज्ञान की दृष्टि के अनुसार हमारे शरीर में दो प्रकार की ग्रंथियां हैं—वाहिनी—युक्त (with duct) एवं वाहिनी—रहित (ductless)। ये वाहिनी—युक्त ग्रंथियां अन्तःस्रावी होती हैं। इन्हें “एण्डोक्राइन ग्लेण्ड्स” कहा जाता है। पीनियल, पिच्यूटरी, थायरॉइड, पैराथायरॉइड, थाइमस, एड्रीनल और गोनाड्स — ये सभी अन्तःस्रावी ग्रंथियां हैं। इनके स्राव हार्मोन कहलाते हैं। हमारी शारीरिक, मानसिक और भावनात्मक—प्रवृत्तियों का संचालन इन ग्रंथियों द्वारा उत्पन्न स्रावों (हार्मोन्स) के माध्यम से होता है।

हमारी सभी चैतन्य—क्रियाओं का संचालन इस ग्रंथि—तंत्र द्वारा होता है। इन ग्रंथियों द्वारा प्रभावित क्षेत्र को चैतन्य—केन्द्रों की संज्ञा दी गई है।

क्रोध, कलह, ईर्ष्या, भय, द्वेष आदि के कारण सबसे ज्यादा प्रभावित होती है— एड्रीनल ग्रंथि। जब ये अनिष्ट भावनाएं जागती हैं, तब एड्रीनल—ग्रंथि को अतिरिक्त काम करना पड़ता है और अन्य ग्रंथियां भी अति श्रम से थककर शिथिल हो जाती हैं, उनकी शक्ति क्षीण हो जाती है। परिणामस्वरूप, शारीरिक और मानसिक—संतुलन बिगड़ जाता है, इसलिए यह आवश्यक है कि हम इन आवेगों और भावनाओं पर नियंत्रण करें। आवेगों को समझदारी से समेटें तथा ग्रंथियों पर अधिक भार न आने दें। इसका उपाय है— चैतन्य—केन्द्र—प्रेक्षा।

## ६ . लेश्या—ध्यान

चेतना की भावधारा को लेश्या कहते हैं। लेश्या निरन्तर बदलती रहती है। लेश्या प्राणी के आभामण्डल का नियामक तत्त्व है। ओरा में कभी लाल, कभी नीला, कभी काला और कभी सफेद रंग उभर आता है। ओरा में भावों के अनुरूप रंग बदलते रहते हैं।

कषाय की तरंगों और कषाय की शुद्धि होने पर आने वाली चैतन्य की तरंगों को भाव के रूप में निर्माण करना और उन्हें विचार, कर्म और क्रिया तक पहुंचा देना— यह लेश्या का काम है। लेश्या ही सूक्ष्म शरीर और स्थूल शरीर के बीच सम्पर्क—सूत्र है।

हमारे आवेश, आवेग, भाव या आदतें— इन सबको उत्पन्न करने वाला सशक्त तन्त्र है— लेश्या—तंत्र। क्रूरता, हिंसा, प्रवंचना, प्रमाद, आलस्य आदि जितने दोष हैं, वे सब लेश्याओं से उत्पन्न होते हैं।

लेश्या के परिवर्तन द्वारा ही जीवन में परिवर्तन सिद्ध हो सकता है। लेश्याओं को बदले बिना जीवन नहीं बदल सकता।

**लेश्याएं हैं आभामंडल**

**है प्रदर्शन भावों का।**

**जैसा भाव, वैसी लेश्या**

**ना कोई संदेह मन का॥**

यह कोरा तत्त्वज्ञान नहीं है, बदलने के सूत्र हैं, अभ्यास के सूत्र हैं।

भावधारा (लेश्या) के आधार पर आभामण्डल बदलता है और लेश्या—ध्यान द्वारा आभामण्डल को बदलने से भावधारा भी बदल जाती है। इस दृष्टि से लेश्या—ध्यान या चमकते हुए रंगों का ध्यान बहुत ही महत्वपूर्ण है। हमारी भावधारा जैसी होती है, उसी के अनुरूप मानसिक—चिन्तन तथा शारीरिक—मुद्राएं होती हैं। इस भूमिका में लेश्या की उपयोगिता बहुत बढ़ जाती है।

## **७. भावना और अनुप्रेक्षा**

प्रेक्षा—ध्यान—पद्धति के दो पक्ष हैं— प्रेक्षा और अनुप्रेक्षा; देखना और अनुचिन्तन करना। चिन्तन की एकाग्रता के लिए प्रेक्षा—ध्यान महत्वपूर्ण पद्धति है।

मन की मूर्च्छा को तोड़ने वाले विषयों का अनुचिन्तन करना अनुप्रेक्षा है। जिस विषय का अनुचिन्तन बार—बार किया जाता है, या प्रवृत्ति का बार—बार अभ्यास किया जाता है, उससे मन प्रभावित हो जाता है, इसलिए उस चिन्तन या अभ्यास को भावना कहा जाता है।

अनुप्रेक्षा का आधार द्रष्टा द्वारा प्रदत्त बोध है। उसका कार्य है— यथार्थ को खोजना, अनुसंधान करना, अनुचिन्तन करना, अनुचिन्तन करते—करते उस बोध का प्रत्यक्षीकरण करना।



प्राचीन साधकों और दार्शनिकों ने अनुप्रेक्षा—चिन्तन की एकाग्रता द्वारा सत्य को खोजा था। आज के वैज्ञानिक भी इसी पद्धति द्वारा सत्य तक पहुंचते हैं। प्रायोगिक—अनुप्रेक्षा के दो प्रकार हैं—

१. सत्य का चिन्तन २. भाव—परिवर्तन।

मनुष्य जिसके लिए भावना करता है, जिस अभ्यास को दोहराता है, उसी रूप में उसका संस्कार निर्मित हो जाता है। यह आत्म—सम्मोहन की प्रक्रिया है। आत्मा की भावना करने वाला आत्मा में स्थित हो जाता है। 'अर्हम्' की भावना करने वाले में 'अर्हत्' होने की प्रक्रिया शुरू हो जाती है।

## ध्येय—

प्रेक्षा—ध्यान की साधना का ध्येय है— चित्त को निर्मल बनाना। चित्त कषायों से मलिन रहता है। कषायों से मलिन चित्त में ज्ञान की धारा नहीं बह सकती। हमारे भीतर ज्ञान होते हुए भी वह प्रकट नहीं होता, क्योंकि बीच में मलिन चित्त का परदा आ जाता है, अवरोध आ जाता है। चित्त की निर्मलता होते ही वह ज्ञान प्रकट होता है, उसका अवरोध समाप्त हो जाता है, वह पारदर्शी बन जाता है।

जब चित्त की निर्मलता होती है, तब शांति का अनुभव स्वतः होने लगता है। मन का संतुलन, मन की समता और आनन्द का अनुभव होने लगता है।

## प्रेक्षा—

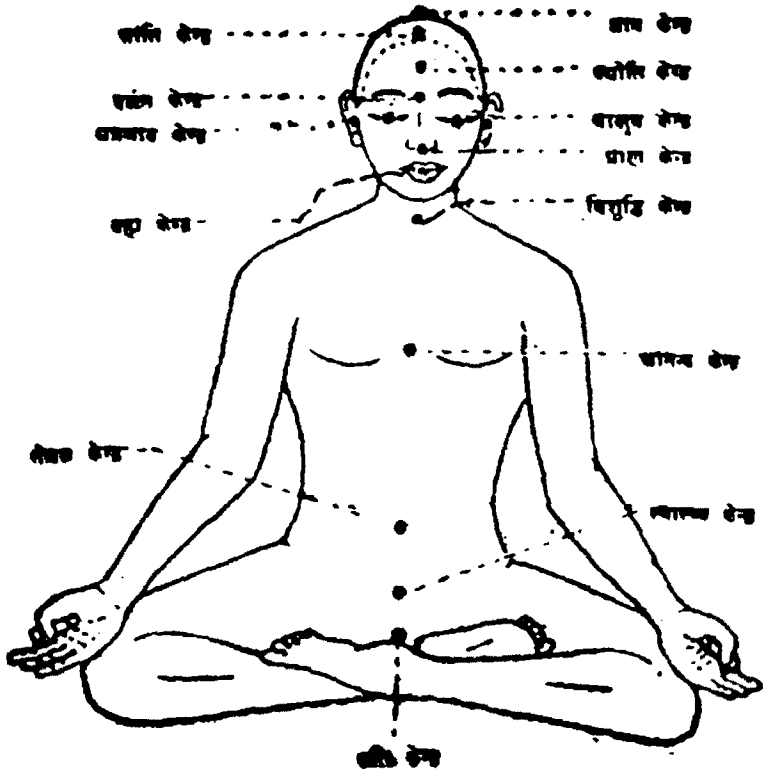
ध्यान के पूर्व यौगिक—क्रियाएँ की जाती हैं। पूरे शरीर में खिंचाव व लचीलापन लाया जाता है। प्रत्येक अंग पर यह क्रिया होती है।

●

# प्रेक्षा—ध्यान के प्रयोग

ध्यानासन — जिस आसन में अधिक समय तक बैठ सकें, उस आसन का चुनाव करें, जैसे— पद्मासन, वज्रासन, अर्द्धपद्मासन, सुखासन आदि।

## चैतन्य—केंद्र



आंखें कोमलता से बंद करें। कोई हलचल ना करें। मुद्रा का चुनाव करें। ब्रह्ममुद्रा में हाथ नाभि के नीचे रखें। दायां हाथ ऊपर होगा। ज्ञानमुद्रा में दोनों हाथ घुटने पर रखें और अंगूठा तथा तर्जनी को जोड़ें, बाकी की तीन अंगुलियाँ खुली रहें।

सर्वप्रथम 'अर्हम्' की ध्वनि नौ बार करें। प्रथम, दीर्घश्वास लें व अर्हम् का उच्चारण करें।

संकल्प करें — 'मैं चित्तशुद्धि के लिए प्रेक्षाध्यान का प्रयोग कर रहा हूँ।'

### ध्यान का पहला चरण — कायोत्सर्ग

शरीर को शिथिल, स्थिर और तनावमुक्त करें। पीठ और गर्दन सीधी रखें, कोई अकड़न नहीं हो। मांसपेशी तथा पूरा शरीर तनावमुक्त हो।

पांच मिनट तक कायगुप्ति का अभ्यास करें। चित्त को पैर से लेकर सिर तक ले जाएँ। शिथिलता का आदेश दें— 'प्रत्येक अवयव शिथिल हो जा, शिथिल हो रहा है, शिथिल हो गया है, शरीर हलका हो गया है।'

अब अनुभव करें— पूरा शरीर हल्का हो गया है। शांति का अनुभव हो रहा है। मेरे शरीर पर पहने हुए वस्त्र मुझसे भिन्न हैं। मैं और शरीर भिन्न हैं। कल्पना करें— मेरे शरीर के चारों ओर सफेद रंग के परमाणु फैले हुए हैं। मैं जो श्वास ले रहा हूँ, वह भी श्वेत रंग का है। सभी तरफ, आसमान से इस धरती तक सिर्फ श्वेत रंग है। मेरा शरीर उसमें बहता रहा है। मैं (आत्मा) दूर से देख रहा हूँ। शरीर और आत्मा की भिन्नता मेरी समझ में आ गई है। मैं शरीर नहीं हूँ। मेरा शरीर श्वेत रंग के परमाणुओं के साथ बह रहा है। मैं सिर्फ देख रहा हूँ। सर्वत्र शांति है। अनुभव करें, देखें, शरीर और आत्मा की भिन्नता।

इसी अवस्था में पाच मिनट तक रहें। अगर शरीर में दर्द हो, तो सिर्फ देखें। प्रियता —अप्रियता का संवेदन न हो। सिर्फ जानें।

अभी अंगूठे से लेकर सिर तक चित्त की यात्रा करें। पूरे शरीर में चैतन्य फैला है। अब जाग्रत अवस्था में आएँ, प्राणतत्त्व का संचारण हो रहा है।

तीन दीर्घ श्वास लें और कहें —

अरहन्ते सरणम् पवच्छामि।

सिद्धे सरणम् पवच्छामि।

साहू सरणम् पवच्छामि।

केवलिपण्णत्तो धम्मं सरणं पवच्छामि॥

**दीर्घश्वास—प्रेक्षा** — श्वास की गति मंद करें। धीरे—धीरे श्वास लें। श्वास लयबद्ध रहे। पहला श्वास लेने में जितना समय लगा, उतना ही समय दूसरा श्वास लेने में लगाएं। श्वास का कंपन नाभि तक रहे। श्वास लेते समय पेट की मांसपेशियाँ फूलेंगी और श्वास छोड़ते समय अंदर जाएंगी। चित्त को नाभि पर केन्द्रित करें। श्वास देखें। मन में विचार आए, तो सिर्फ देखें। द्रष्टाभाव रहे। श्वास—संयम का अभ्यास करें।

**अन्तर्यात्रा** — प्रेक्षा—ध्यान का दूसरा चरण है — अन्तर्यात्रा। हमारे केन्द्रीय नाड़ी—तंत्र का मुख्य स्थान है— सुषुम्ना। सुषुम्ना के नीचे का छोर—शक्तिकेन्द्र, ऊर्जा या प्राणशक्ति का मुख्य केन्द्र है। अन्तर्यात्रा में चित्त को शक्तिकेन्द्र से सुषुम्ना के मार्ग द्वारा ज्ञान—केन्द्र तक ले जाना होता है। चेतना की इस अन्तर्यात्रा से ऊर्जा का प्रवाह ऊर्ध्वगामी होता है। पांच मिनट तक अन्तर्यात्रा का अभ्यास करें।

**लेश्या—ध्यान**

चेतना की भावधारा को लेश्या कहते हैं। लेश्या निरन्तर

बदलती रहती है। ओरा में कभी लाल, कभी नीला, कभी काला और कभी सफेद रंग उभर आता है। हमारे ओरा में भावों के अनुरूप रंग बदलते रहते हैं।

चित्त को आनन्द—केन्द्र (हृदय का भाग) पर स्थापित करें, वहाँ चमकते हरे रंग का ध्यान करें। शरीर के चारों ओर हरा रंग फैला हुआ है। श्वास भी हरे रंग का बन गया है। उस रंग के साथ हमारी भावधारा भी निर्मल हो रही है।

इसी प्रकार, रंग के सहारे हम विभिन्न चैतन्य—केन्द्रों (१३ प्रकार के) पर विभिन्न रंगों का ध्यान कर सकते हैं।

विशुद्धि—केन्द्र पर	—	नीला रंग
दर्शन—केन्द्र पर	—	अरुण रंग
ज्ञान—केन्द्र पर	—	पीला रंग
ज्योति—केन्द्र पर	—	श्वेत रंग

हमारे शरीर में १३ प्रकार के चैतन्य—केन्द्र हैं। उनके नाम व स्थान चित्र में दिखाए गए हैं। वे हमारे शरीर के मर्मस्थल हैं। वहाँ ध्यान करने से वे प्रज्वलित होकर हमें जगाते हैं। मेरी साधना में मैंने इन चैतन्य—केन्द्रों का अधिक सहारा लिया था। इन १३ चैतन्य—केन्द्रों के नाम इस प्रकार हैं—

- १ शक्ति—केन्द्र (पृष्ठ—रज्जु के नीचे के छोर पर)
- २ स्वास्थ्य—केन्द्र (पेड़)
- ३ तेजस्—केन्द्र (नाभि)
- ४ आनन्द—केन्द्र (हृदय के पास, बीच में)
- ५ विशुद्धि—केन्द्र (कंठ)
- ६ ब्रह्म—केन्द्र (जिह्वाग्र)
- ७ प्राण—केन्द्र (नासाग्र)

- ८ चाक्षुण—केन्द्र (आंखों के भीतर)  
 ९ अप्रमाद—केन्द्र (कानों के भीतर)  
 १० दर्शन—केन्द्र (भृकुटियों के मध्य में)  
 ११ ज्योति—केन्द्र (ललाट के मध्य में)  
 १२ शांति—केन्द्र (मस्तिष्क का अग्रभाग)  
 १३ ज्ञान—केन्द्र (चोटी का स्थान)

इस प्रकार विचारों की प्रेक्षा, समता की प्रेक्षा, सहिष्णुता की अनुप्रेक्षा करके हमारे भाव निर्मल हो सकते हैं। प्रेक्षाध्यान की साधना परिवर्तन की साधना है। प्रेक्षाध्यान से चित्त की एकाग्रता व प्रसन्नता, ज्ञाता—द्रष्टाभाव का विकास, धार्मिकता के लक्षणों का प्रकटीकरण, प्रज्ञा और चैतन्य का जागरण, कर्मतंत्र और भावतंत्र का शोधन, कर्मों की निर्जरा, चैतन्य का साक्षात्कार आदि संभव हैं।

### ध्यान—मार्ग की रुकावटें—

- |               |               |
|---------------|---------------|
| १) रोग        | २) आलस्य      |
| ३) प्रमाद     | ४) संशय, भ्रम |
| ५) विषयासक्ति | ६) भ्रमिष्टता |
| ७) अस्थिरता   | ८) अरुचि।     |

## ध्यान का फल

आज तक जितने भी महान् संत हुए, उन्होंने चित्त को निर्मल बनाकर ध्यान में एकाग्रता लाई। स्वयं का शोधन करते—करते वे स्वयं को प्राप्त हुए। ध्यान आध्यात्मिक—उन्नति की एक चमत्कारिक सीढ़ी है, जो साधन को साध्य—प्राप्ति में बहुत सहायक है।

इस संसार में अनेक जीवात्मा हैं, जो यह नहीं जानते कि उन्हें क्या चाहिए और उसे कैसे प्राप्त करना है? इस सांसारिक—दुःख और कष्ट तथा सांसारिक—दिनचर्या के अतिरिक्त और भी कुछ है, यह वे जानते नहीं और उसे मानते भी नहीं। इस कारण मैं कहती हूँ कि आध्यात्मिक—जगत् में जाने के लिए स्वयं की परीक्षा करनी ही पड़ेगी। स्वयं को स्वयं से प्रश्न पूछने ही होंगे—

क्या प्यास लगी आतम की ?  
क्या भूख लगी मुक्ति की?  
क्या संसार में लगे बेचैनी?  
क्या मन में बने हो बैरागी?

अगर इनका जबाब हाँ है, तो तुम इस साधना के पात्र हो। तुम भव्य जीव हो, जो निःशंक होकर साध्य को प्राप्त करोगे। मैं जब भी मेरे मित्र, मेरे रररतेदार, नज़ेसी, भारतीय लोग, अमेरिका के लोग, इनको सिर्फ पैसा कमाने में, टेलीवीजन देखने में, खाने—पीने में व्यस्त देखती हूँ, तो मैं हैरान रह जाती हूँ। क्या कभी अंदर झाँकने की उन्हें तमन्ना नहीं होती, अभिलाषा नहीं होती? वे कभी चित्रकला में, कभी संगीत की दुनिया में, तो कभी क्रीड़ा—जगत् में ही मस्त रहते हैं।

एक बार मुनि आर्यनंदी के पास एक गायक दर्शन करने आया। महाराज उस वक्त सामायिक—ध्यान का महत्व बता रहे थे। वह गायक बोला— “महाराज! मैं तो संगीत में ध्यान लगाता हूँ। मुझे उससे ही बहुत शांति प्राप्त होती है। मुझे ध्यान की क्या आवश्यकता है?” तब आर्यनंदी महाराज बोले— “हे जीव! मैं, बाह्य—वस्तु की बात नहीं कर रहा हूँ। मैं तो आत्मा की बात कर रहा हूँ, जो कि एक आंतरिक घटना है।”

एक पुरानी बात है। जापान का सम्राट ज़ेन मंदिर देखने गया। उसने भिक्षु से कहा— “मुझे यहाँ की मुख्य चीजें ही बताएं।” भिक्षु ने अनेक कमरे दिखाए और कहा— “यहाँ हम सोते हैं, इस हॉल में हम खाना खाते हैं वगैरह...।” तब राजा को क्रोध आया और उसने गुस्से में पूछा— “यह हॉल किस कारण से है?” तब भिक्षु बोला— “यह ध्यान का कमरा है, यहाँ हम कुछ भी नहीं करते।” सच ही तो है, ध्यान में कोई भी क्रिया नहीं होती है।

**स्वात्मानं स्वात्मानि स्वेन ध्यायेत्स्वस्मै स्वतोयतः।**

**षट्कारकमयस्तस्माद् ध्यानमात्मैव निश्चयात्॥**

मैं मेरे में, मेरे द्वारा, मेरे लिए, स्वयं मेरे स्वरूप का ध्यान करता हूँ।

ध्यान का फल है— मेरा शांत स्वरूप। ध्यान करनेवाला— ‘मैं’, जिसका ध्यान करना है, वह भी ‘मैं’ ही हूँ। इस कारण ‘स्वयं’ का अभ्यास आवश्यक है।

‘मैं कौन हूँ?’ इस प्रश्न का जबाब आपका इस प्रकार भी दे सकते हैं कि ‘मैं’ इसकी माँ हूँ, पत्नी हूँ, बेटी हूँ, डॉक्टर हूँ, वकील हूँ, पर ये सब बनने के पूर्व क्या आप नहीं थे?



बाह्य—जगत् की हर वस्तु नाशवान् है, अशाश्वत है, हर समय बदलती है, मेरा साथ नहीं निभाती। सिर्फ आत्मा ही शाश्वत है। वही मेरा स्वरूप है। मैं जीव हूँ। सबसे भिन्न हूँ। मेरा कोई नहीं। मैं अकेला हूँ। मेरा शरीर भी मेरा नहीं। यही मेरी पहचान है। सभी सन्तों ने यही बताया है। ध्यान में जब स्थिरता प्राप्त होती है, तब स्वर्ग आनंद की अनुभूति होती है। ध्याता अपने स्वभाव में स्थित होकर शुभ—अशुभ कर्मों के प्रवाह को रोकता है। विद्यमान कर्म की निर्जरा होती है।

ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, अंतराय, मोहनीय आदि कर्मों की स्थिति बदलती है और साधक को सुख की प्राप्ति होती है। दुःखमय कर्मों के उदय सुखमय बनते जाते हैं।

योगसार में लिखा है— ‘आत्मदर्शन ही मोक्ष का कारण है’—

**अप्पा—दंसणु एककु परू अण्णुण किं पि।  
मोक्खहँ कारण जोइया णिच्छइं एहउ जाणि॥**

हे योगिन्! आत्मदर्शन ही मोक्ष का कारण है, अन्य कुछ भी मोक्ष का कारण नहीं, यही तू निश्चय ही समझ।

ध्यान में स्वयं को पाने वाला साधक इसी जीवन में आत्यंतिक आंतरिक—सुख का हकदार होता है। उसे दुनिया की हर चीज नकली और अनित्य दिखाई देती है। वह सचमुच अंदर से मुक्त होता है, परंतु बाहर से सामान्य दिखाई देता है। जब चाहे, वह अपने घर लौटता है, वहाँ असीम विश्राम पाता है और गाता है—

**मेरा ज्ञान भजन बन गया,  
मेरा चित्त चुप जो हुआ,  
मेरा विकारी मन है शान्त,  
ध्यानदर्पण में खुद को पाया॥**

यही ध्यान की परम उपलब्धि है। इसी काल में, इसी क्षेत्र में, इसी भव में, हम मुक्ति की ओर चल सकते हैं और बड़ी दृढ़ता से कह सकते हैं— शुद्धोऽ हं! शुद्धोऽ हं!! शुद्धोऽ हं!!!

ॐ

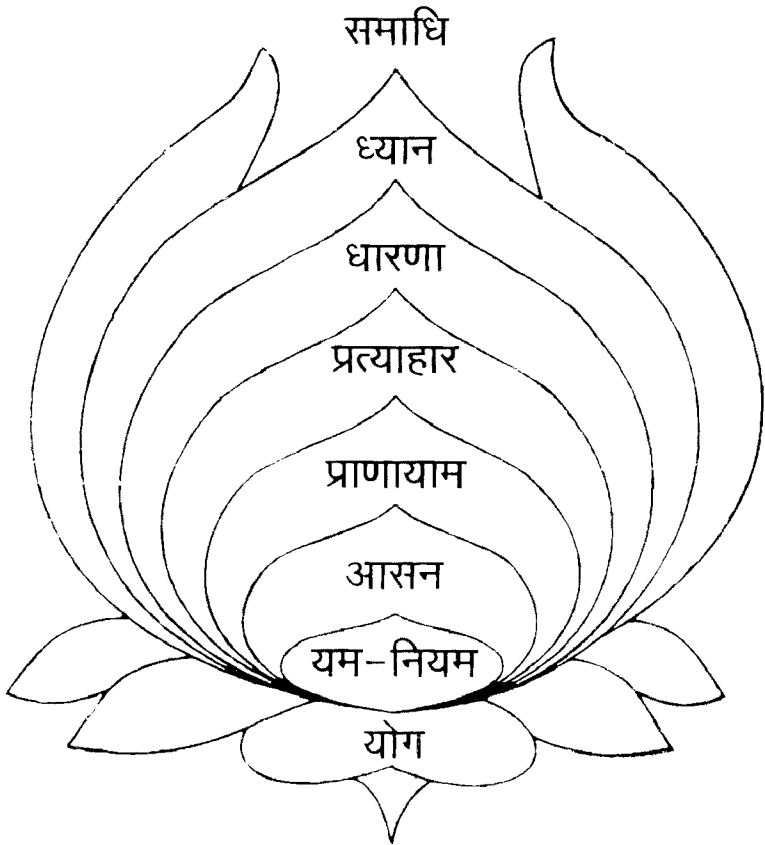
ॐ

ॐ

## धर्म क्या है ?

‘वत्थु सहावो धम्मो’— आत्मा का स्वभाव ही धर्म है, अतः स्व के भाव में, स्वभाव में, समता में, वीतरागता में स्थित हो जाना ही धर्मध्यान है। इसी धर्मध्यान का अन्य स्वरूप है— सामायिक।

# ध्यान साधना के चरण





## डॉ. श्रीमती विजया गोसावी

पी—एच.डी. पदवी से सम्मानित सौ. विजया कृष्णराव गोसावी सम्पूर्ण जैन समाज के लिये गौरवशाली हैं। दिल्ली में २० अक्टूबर, २००५ को माननीय राष्ट्रपति श्री अब्दुल कलाम के सान्निध्य में उन्हें पी—एच.डी. से विभूषित किया गया। उन्होंने योग और ध्यान पर जैन विश्व भारती, लाडनू से शोध कार्य किया। तीव्र रुचि, दृढ़ संकल्प और कड़ी मेहनत से ६० वर्ष की आयु में अपनी मंजिल प्राप्त कर, यह करिश्मा उन्होंने कर दिखाया। २० साल अमेरिका में रहने के बाद जब लौटीं, तो उन्होंने जैन दर्शन का अभ्यास किया और एम.ए. जैनालॉजी प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण किया।

आप एक योग—शिक्षिका हैं तथा आप एक प्रवचनकार भी हैं। अत्यन्त सुलभ, सरल भाषा में गहन तत्त्वज्ञान को समझाने तथा स्वयं प्रेरित काव्य से उसे सजाने का कार्य आप कई जगह कर चुकी हैं। आपके जैन दर्शन पर कोल्हापुर, सोलापुर, मुम्बई, नई मुम्बई, राजस्थान, मुक्तागिरी तीर्थक्षेत्र, अकोला, मूर्तिजापुर तथा अन्य क्षेत्र में प्रभावी प्रवचन हुए। ज्ञान, ध्यान और वैराग्य से आज भी आध्यात्मिक उन्नति सहज साध्य है, यह आपका कहना है।

डॉ. सौ. गोसावी का जन्म महाराष्ट्र के मूर्तिजापुर गाँव में हुआ। उनके पिताजी जैन समाज के 'समाजभूषक' थे तथा माता भी बहुत धार्मिक थीं। उनके पति प्रो. कृष्णराव गोसावी ने भी जैन दर्शन में पी—एच.डी. प्राप्त की है। उनकी कन्या लीना मुम्बई में प्रसिद्ध आर्किटेक्ट हैं।

डॉ. सौ. विजया गोसावी को अनेक सम्मान व सत्कार प्राप्त हैं। वे छोटे बालकों के लिये विविध कार्यक्रम लिखती हैं तथा करवाती हैं। वे एक समाज सेविका भी हैं। उनकी मराठी में लिखी दो किताबें— १) जैन धर्माची आळेख, २) मुक्तीते द्वार : ध्यान, बहुत लोकप्रिय हुई। उनकी भावी प्रभावना 'योग एक वरदान' तथा 'काव्यांजलि' जल्द ही प्रकाशित होंगी।

